गुरुदत्त लेखावली

अर्थात्

मुनिवर

श्री पं० गुरुदत्तजी विद्यार्थी एम०ए०

के

लेखों का आर्य्यभाषानुवाद

जो

(आज तक आर्य्यभाषा में अप्रकाशित रहे हैं)

अनुवादक

पं० सन्तराम बी०ए०—पं० भगवद्दत्त बी०ए०

प्रकाशक

राजपाल—प्रबन्धकर्त्ता,

आर्य्यपुस्तकालय व सरस्वती आश्रम लाहौर।

नवम्बर १९१८—मार्गशीर्ष १९७५.

दयानन्दाब्द ३६।

पंजाब प्रिंटिंग वर्क्स, लाहौर में पं० चरणदास बी. ए. के प्रबन्ध से टाइटल व पृष्ठ २६७ से ३१६ तक छपा। शेष बाम्बे प्रेस लाहौर मे छपा।

मूल्य २)

ओ३म

उपोद्घात ।

आर्य्यसमाज के विद्वानों में, ऋषि दयानन्द के पश्चात्, मुनिवर गुरुदत्त का स्थान सब से ऊंचा है । आर्य्यसमाज ही क्या, अपने समय में सारा शिक्षित पञ्जाब उन्हें विद्वच्छिरोमणि मानता था । उनके पाण्डित्य, उनके आचार, और उनकी तितक्षा को सभी धर्म्मों के अनुयायी आदर की दृष्टि से देखते थे । वैदिक धर्म्म के यथार्थ स्वरूप को जैसा गुरुदत्त ने समझा था वैसा दयानन्द के पश्चात् और किसी ने नहीं समझा । वैदिक धर्म्म की जैसी विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण मीमांसा गुरुदत्त के लेखों में मिलती है वैसी किसी दूसरे आर्य्य सामाजिक पण्डित के लेखों में नहीं मिलती । गुरुदत्त ने अपने आचार्य, ऋषि दयानन्द, के भाव को खूब समझा था और उसे अपनी आत्मा के अन्दर धारण किया था । जिस दृष्टि से वेदों को दयानन्द देखते थे गुरुदत्त भी ठीक उसी दृष्टि से उन्हें देखते थे । यह बात उनकी की हुई वैदिक मंत्रों और उपनिषदों की व्याख्या से स्पष्ट सिद्ध होती है । पुराने ढर्रे के पण्डित आर्यसमाज में आने को तो अनेक आए पर उन में से अधिकांश पौराणिक संस्कारों को छोड़ नहीं सके । बाहर से आर्यसमाज के प्रवर्तक पर अगाध श्रद्धा दिखलाते हुए भी व्यवहार में वे अश्रद्धा का ही प्रकाश करते हैं । उनके किए हुए आर्ष ग्रन्थों के अनुवाद दयानन्द की शैली और भाव के प्रतिकूल देखने में आते हैं । गुरुदत्त के ग्रन्थ इस दृष्टि से अद्वितीय हैं । उनके अन्दर दयानन्द का भाव कूट कूट कर भरा पड़ा है । जहां कहीं भी उन्हें किसी शब्द के अर्थों के विषय में भ्रांति फैलने की आशङ्का प्रतीत हुई है वहां उन्हों ने उसे भली भांति स्पष्ट कर दिया है जिस से वह आशङ्का सर्वथा दूर होगई है । उदाहरणार्थ, देखिए मुण्डकोपनिषद् के "ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता" का अर्थ जहां दूसरे पण्डितों ने "देवताओं के मध्य में ब्रह्मा पहले प्रकट हुआ, जो विश्व का कर्त्ता और भुवन का रक्षक है" किया है वहां पण्डित गुरुदत्त ने इसका अर्थ "विद्वानों में सब से पहला विद्वान् ब्रह्मा था जोकि प्रकृति के भौतिक नियमों का पूर्ण ज्ञाता और निपुण शिल्पी था," करके इस की पौराणिक गंध को सर्वथा दूर कर दिया है । इसी प्रकार मुण्डक १, खं० २, मं० १२ का अर्थ आर्य-समाजी पण्डितों ने "कर्मों से जो लोक लाभ किए जाते हैं उनकी परीक्षा करके ब्राह्मण को चाहिए कि वैराग्य को प्राप्त हो" किया है । पर पं० गुरुदत्त इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—"यह देखकर कि संसार के सारे उपभोग कर्म्मों का फल हैं, और कि केवल कर्म्मों से ही ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती,

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि संसार के मोह को छोड़ दे"। पाठक देखिए पं० गुरुदत्त का किया अर्थ कैसा स्पष्ट और ऋषि दयानन्द की शैली के अनुकूल है। इस में देवता, ब्राह्मण, लोक आदि शब्दों को कैसा खोलकर समझाया गया है। इस से यह न समझ लीजिए कि पण्डित जी ने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए मनमाने अर्थ कर डाले हैं। नहीं, उन्हों ने अपने पक्ष को ऐसे अखण्डनीय प्रमाणों से सिद्ध किया है कि विपक्षियों को "किन्तु"—"परन्तु" का कोई स्थान नहीं रहा।

यह संसार सत्य के आश्रय स्थित है। सत्य ही मनुष्य का परम धर्म्म है। इसी सत्य-रूपी धर्म्म का जानना ही सच्चा धर्म्म-ज्ञान है और इसके अनुकूल आचरण करना ही सच्चा धर्म्माचरण है। संसार में जितनी धर्म्म की वृद्धि होती है उतनी ही सुख की मात्रा बढ़ती है। अधर्म्म का फल दुःख के सिवा और कुछ नहीं। इसलिए धर्म्माधर्म्म का विवेक मनुष्य के लिए परम कर्तव्य है। नर-देह पाकर स्वधर्म्म सत्य धर्म्म को पहचानने में अवहेलना करना बड़ा ही हानिकारक है। इस युग में जिन झगड़ों और उपद्रवों के लिए धर्म्म कलङ्कित होरहा है वे वस्तुतः अविद्या का फल हैं। धर्म्म से उनका कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि धर्म्म का फल कभी दुःख नहीं होसकता। अविद्या से जिस वस्तु को पंथाई लोग धर्म्म समझकर लड़ते झगड़ते हैं वह वस्तुतः धर्म्म नहीं, अधर्म्म है। इन लड़ाई झगड़ों की समाप्ति तभी होसकती है जब लोगों को सत्य-धर्म्म का ठीक ठीक ज्ञान हो। इसलिए सत्य धर्म्म का प्रचार करना संसार में बड़ा भारी पुण्य है। पण्डित गुरुदत्त ने इस धर्म्म-तत्त्व को भली भांति अनुभव किया था। वे जनता के अविद्यान्धकार को ज्ञान के प्रकाश द्वारा दूर करने को भारी परोपकार समझते थे। आत्मिक शान्ति उनके लिए भौतिक शान्ति से कहीं बढ़कर थी। अपनी आध्यात्मिक शान्ति के लिए उन्हों ने संसार के प्रायः सभी बड़े बड़े धर्म्म-प्रचारकों के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। संस्कृत और अङ्गरेज़ी में तो उनकी योग्यता अद्वितीय थी ही पर दर्शन शास्त्र और पदार्थ विज्ञान के भी वे पारदर्शी पण्डित थे। विज्ञान का कदाचित् ही कोई ऐसा विषय होगा जिस का उन्हों ने अध्ययन न किया हो। फारसी और अरबी के भी उन्हों ने अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थ पढ़े थे। अनेक दिन वे नास्तिक भी रहे थे। पर अन्त को चिरकालिक चिन्तन और ऋषि दयानन्द के आध्यात्मिक प्रसाद से उनकी नास्तिकता दूर होकर उन्हें सत्य धर्म्म का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हुआ था। उसी समय उन्हों ने पूर्ण आत्मिक शान्ति लाभ की थी। जिस अमूल्य अमृत रस को उन्हों ने इतने यत्न से प्राप्त किया था उसका पान वे अपने अन्य भाइयों को भी कराना चाहते थे। पण्डित गुरुदत्त ने इस बात का भली

भांति अनुभव कर लिया था, और उन्हें यह पूर्ण निश्चय होचुका था कि एक वेद-प्रतिपादित धर्म्म ही सच्चा नैसर्गिक धर्म्म है, वही नारायण का नर के प्रति उपदेश है। इसीलिए वे वेदों पर किसी भी प्रकार का आक्षेप देखकर चुप न रह सकते थे।

पण्डित गुरुदत्त के समय में वेदों पर चारों ओर से विपक्षियों के आक्रमण हो रहे थे। पुराने पण्डित उन आक्रमणों का कुछ उत्तर न दे सकते थे। इससे आर्य सन्तान वेदों से विमुख होकर धड़ाधड़ ईसाई मत को ग्रहण कर रही थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऋषि दयानन्द ने वैदिक धर्म्म की इस डूबती हुई नौका को अपने पावन उपदेशों के बल से थाम लिया था और सर्व साधारण की वैदिक धर्म्म पर पुनः श्रद्धा होने लगी थी, पर मेक्समूलर, मोनियर विलियम्स, और टी० विलियम्स ऐसे ईसाई पादरी वेदों के विरुद्ध अपना विष अंगरेज़ी भाषा द्वारा फैलाते थे। इससे अंगरेज़ी पढ़े युवकों का विश्वास वेदों पर से हिल रहा था। उनके फैलाए विष को दूर करने के लिए अंगरेज़ी में ही उनकी आपत्तियों का खण्डन करना परमावश्यक था। उस समय पण्डित गुरुदत्त के सिवा और कोई योग्य व्यक्ति ऐसा न था जो इस कठिन कार्य को कर सकता। इसलिए उन्होंने ही इस काम का बीड़ा उठाया और विपक्षियों के आक्षेपों का ऐसा मुंह तोड़ उत्तर दिया कि उन्हें फिर बोलने का साहस नहीं हुआ। पण्डितजी ने केवल पादड़ियों के वेदों पर किए आक्षेपों का ही उत्तर नहीं दिया, उन्होंने उनको शुद्ध वेदार्थ-शैली भी बताई है। उपनिषदों और वेद मंत्रों के शुद्ध अर्थ करके उनकी भूलें दिखलाई हैं। पण्डितजी ने अपने लेखों में वैदिक धर्म्म का जो स्वरूप दिखलाया है वह बड़ा ही उत्कृष्ट है। वेदों का कट्टर से कट्टर विरोधी भी उसे देखकर मोहित हुए विना नहीं रह सकता। सत्य धर्म्म के अभिलाषियों के लिए उनके लेखों का पाठ अत्यन्त हितकर सिद्ध होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पण्डितजी के निम्नलिखित लेखों का भाषान्तर दिया गया है—

(१) The Terminology of the Veda. वैदिक संज्ञा-विज्ञान।

(२) The Terminology of the Vedas and European Scholars. वैदिक संज्ञा-विज्ञान और योरुपीय विद्वान्।

(३) Criticism on Monier William's "Indian Wisdom." अध्यापक मोनियर विलियम्स की "इण्डियन विज़डम" नामक पुस्तक की आलोचना।

(४) Evidences of the Human Spirit. जीवात्मा के अस्तित्व के प्रमाण।

(५) ईशोपनिषद्।

(६) माण्डूक्योपनिषद्।

(७) मुण्डकोपनिषद् ।

(८) Vedic Texts No. 1. The Atmosphere. वेद-वाक्य नं० १: वायु मण्डल ।

No. 2. Composition af Water. वेद-वाक्य नं० २. जल की रचना ।

No. 3. Grihastha. वेद वाक्य नं० ३. गृहस्थ ।

(९) The Realities of Inner life. आध्यात्मिक जीवन के तत्त्व ।

(१०) Pecunomania. धन का डाह ।

(११) A Reply to Mr. T. William's Letter on "Idolatry in the Vedas." "वेदों में मूर्ति-पूजन" पर टी० विलियम्स साहब के पत्र का उत्तर ।

(१२) A Reply to Mr. T. William's Criticism on Niyoga. टी० विलियम्स साहब की नियोग पर दोषालोचना का उत्तर ।

(१३) Mr. T. Williams on Vedic Text No. 1, "The Atmosphere." वेद-वाक्य नं० १ पर टी० विलियम्स साहब की दोषालोचना ।

(१४) Mr. Pincott on the Vedas. वेदों पर पिनकाट साहब की सम्मति ।

अब इन लेखों के विषयों को भी, संक्षेप से सुन, लीजिए:—

१—२. वैदिक संज्ञा-विज्ञान,—और वैदिक संज्ञा-विज्ञान तथा योरुपीय विद्वान्—इन दो लेखों में बताया गया है कि हरिवर्षीय विद्वान् किन कारणों से वेद-मंत्रों का ठीक अर्थ नहीं कर सकते या नहीं करते । इस के अतिरिक्त इन में वेदार्थ की शुद्ध आर्ष शैली बताने के उपरान्त मोनियर विलियम्स और मोक्षमूलर आदि हरिवर्षीय पण्डितों के मंत्रार्थ की अशुद्धियाँ भी दिखलाई गई हैं । वेद के विद्यार्थियों के लिए ये दोनों लेख बड़े ही उपयोगी और सहायक हैं ।

३. अध्यापक मोनियर विलियम्स की 'इण्डियन विज़डम' नामक पुस्तक की आलोचना—मोनियर विलियम्स साहब ने इण्डियन विज़डम नामक पुस्तक में वैदिक धर्म्म में बहुत से दोष और त्रुटियाँ दिखलाई थीं । साथ ही उन्हों ने वैदिक धर्म्म की ईसाई धर्म्म के साथ तुलना कर के ईसाई धर्म्म को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने का यत्न किया था । पण्डित जी ने अपने इस लेख में मोनियर विलियम्स के लगाये दोषों का युक्ति और प्रमाण से खूब ही खण्डन किया है और सिद्ध किया है कि वैदिक धर्म्म एक सर्वाङ्गपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ धर्म्म है । इस में कोई भी त्रुटि और दोष नहीं । पण्डित जी की यह आलोचना सभी धर्म्म-पण्डितों के पढ़ने योग्य है ।

४. जीवात्मा के अस्तित्व के प्रमाण—इस लेख में अनात्मवादियों की उन युक्तियों का खण्डन है जो वे आत्मा के अस्तित्व से इनकार करते हुए दिया करते हैं। इस में आत्मा के अस्तित्व को वैज्ञानिक रीति से प्रमाणित किया गया है और जड़वाद की खूब धज्जियां उड़ाई गई हैं।

५. ६. ७. ईशोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, और मुण्डकोपनिषद् के मंत्रों के जो अर्थ और उनकी जो व्याख्या उन्हों ने की है वह बड़ी ही उत्कृष्ट, सारगर्भित, और प्रकृत है। जिन वैज्ञानिक बातों को पुराने पण्डित, पदार्थ विज्ञान न जानने के कारण, समझ नहीं सकते और अनुवाद में मक्खी पर मक्खी मार देते हैं वे पण्डित जी के अनुवाद में भली भाँति स्पष्ट हो गई हैं। उदाहरणार्थ मुण्डकोपनिषद् (मुण्डक १, खं० २, मं० ४) में जो अग्नि की सप्त जिह्वा कही हैं उनका अर्थ और पण्डित केवल सात जिह्वा ही करके सन्तुष्ट हो गए हैं। ये सात जिह्वा क्या हैं इसे स्पष्ट करने की उन्हों ने कृपा नहीं की। पर पण्डित गुरुदत्त ने अग्नि की सप्त जिह्वा का अर्थ "Seven Zones of burning flame. (जलती हुई अग्नि-शिखा के सात मंडल)" करके मंत्र को युक्तिसंगत सिद्ध कर दिया है। क्योंकि अग्नि-शिखा के मण्डलों को तो स्कूलों में साइन्स पढ़ने वाले विद्यार्थी भी जानते हैं पर आग की जीभ आज तक किसी ने नहीं देखी। इसी प्रकार की और भी अनेक विशेषताएँ पाठकों को इन उपनिषदों के भाष्यों में मिलेंगी।

८. (क) वेद-वाक्य नं० १, "वायुमण्डल" में उन्हों ने ऋग्वेद के दूसरे सूक्त के पहले मंत्र के प्रमाण और 'वायु' शब्द की व्युत्पत्ति से यह सिद्ध किया है कि आधुनिक विज्ञान ने जो पवन को एक "हलका, गतिशील, थरथराहटों को दूसरों तक पहुँचाने वाला, और गँधों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक लेजाने वाला माध्यम" सिद्ध किया है, उस के इन सब विशेष गुणों को वैदिक शब्द 'वायु' भली भाँति प्रकट कर रहा है। अँगरेज़ी शब्द 'विण्ड' इन गुणों को बिलकुल नहीं दर्शाता।

(ख) वेद-वाक्य नं० १, "जल की रचना", में ऋग्वेद सूक्त २, मं० ७ की व्याख्या की गई है, और दिखाया गया है कि इस मंत्र में यह स्पष्ट लिखा है कि पानी आक्सीजन और हाईड्रोजन नामक दो गैसों के मिलने से बनता है।

(ग) वेदवाक्य नं० २, गृहस्थ, में ऋग्वेद के ५० वें सूक्त के कुछ मंत्रों की व्याख्या करके यह दिखलाया गया है कि गृहस्थ को सुखमय बनाने के लिए वेद में परमेश्वर ने मनुष्य को कैसा उत्तम उपदेश दिया है। इन वेद-वाक्यों के लिखने से पण्डित जी का उद्देश्य वेदों को 'सब सत्य विद्याओं का

भण्डार' प्रमाणित करना प्रतीत होता है। उपर्युक्त वेदमंत्रों की व्याख्या से उनकी आश्चर्यकारिणी प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है।

९. आध्यात्मिक जीवन के तत्त्व नामक पुस्तक में बहुत ही गहन और पवित्र विचार प्रकट किए गये हैं। इस में पण्डित जी ने इन तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन और स्पष्टीकरण किया है—

१. कि आध्यात्मिक जीवन एक यथार्थ और सच्चा जीवन है, और कि संसार के झगड़े झमेलों में फँसा हुआ मनुष्य सार्वत्रिक सत्य (परमेश्वर) का पूर्ण रीति से अनुभव नहीं कर सकता, और न ही वह उसे समझ सकता है।

२. विकसित बुद्धि और निर्मल तर्क के द्वारा इस सार्वत्रिक सत्य का अनुभव करने में अशक्त होने के कारण ही लोगों ने प्रार्थना रूपी औषध की पेटण्ट धर्म्म-चिकित्सायें और अश्रुपूर्ण मस्तिष्क-उपचार निकाले हैं।

३. कि ब्रह्माण्ड का प्रकृत रचयिता एक अदृश्य, प्रतापी, व्यापक और इस आध्यात्मिक जगत् का सर्व-शासक तत्त्व है"।

पण्डितजी इस निबंध में इस परिणाम पर से पहुंचे हैं कि परमेश्वर का अनुभव करने के लिए आत्मा को उच्च करने का साधन प्रार्थना नहीं, प्रत्युत विकसित बुद्धि है। उनकी सम्मति में सबसे सच्ची प्रार्थना जो मनुष्य कर सकता है वह अपने आपको उन ईश्वरीय आदेशों की प्राप्ति का पात्र बनाने के लिए धार्म्मिक उद्योग है जो कि सारे ज्ञान के स्रोत, परमेश्वर, से बुद्धि में आते हैं।

१०. "धन का डाह" नामक निबंध में उन अनर्थों का वर्णन है जो कि उस पागलों की सी दौड़ धूप के कारण हो रहे हैं जो कि संसार में धन को इकट्ठा करने के लिए जारी है। इसमें आपने मनु भगवान् का "अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते" प्रमाण देकर सांसारिक धन की तलाश को आत्मिक उन्नति और संसार के सार्वत्रिक कल्याण के लिए घोर हानिकारक सिद्ध किया है। आपका कहना है कि "मन की दौलत ही सच्ची दौलत है। यह अक्षय धन है। इसका जितना आदर और जितना पूजन हो, थोड़ा है। भौतिक और सांसारिक धन को हमें सब से निकृष्ट समझना चाहिए।"

११. "वेदों में मूर्तिपूजन" पर टी० विलियम्स साहब की चिट्ठी का उत्तर।" पादड़ी टी० विलियम्स साहब ने एक लेख में वेदों में मूर्त्ति-पूजन का विधान सिद्ध करने का यत्न किया था। पण्डितजी ने अपने इस निबंध में उन की युक्तियों और प्रमाणों का खूब खण्डन किया है।

१२. "नियोग" पर टी० विलियम्स साहब की दोषालोचना का उत्तर।" टी० विलियम्स साहब ने "नियोग" पर आक्षेप करते हुए स्वामी

दयानन्द, वेद, और सारी आर्य जाति पर गालियों की बोछाड़ की है। इसी का मुंह तोड़ उत्तर पण्डितजी ने इस निबंध में दिया है। इस उत्तर को पाकर पादड़ी साहब को फिर कुछ कहने का साहस नहीं हुआ।

१३. "वेद-वाक्य नं० १, वायुमण्डल, पर टी० विलियम्स साहब के आक्षेप।" पण्डित गुरुदत्त के लिखे इस नाम के निबंध पर टी० विलियम्स साहब ने कुछ आक्षेप किए थे, उन्हीं का उत्तर पण्डितजी ने इसमें दिया है।

१४. "वेदों पर पिनकाट साहब की सम्मति"। इङ्गलेण्ड में पिनकाट नाम के किसी साहब ने वेदों पर एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने वेद के विषय में अनेक भ्रान्तिमूलक बातें लिख दी थीं। इस निबंध में उन्हीं का निराकरण है।

जब पण्डित गुरुदत्त के लेखों का आर्यभाषा में अनुवाद करने की आज्ञा हमें लाहौर के सुप्रसिद्ध आर्यसामाजिक पत्र "प्रकाश" के उप-सम्पादक, और आर्य पुस्तकालय के अध्यक्ष, महाशय राजपालजी ने दी, और अनुवाद करने का निश्चय कर चुकने पर जब हमने इन्हें ध्यान से पढ़ा तब हमें ज्ञात हुआ कि ये लेख बड़े ही क्लिष्ट हैं। अतएव उनका अनुवाद आर्य भाषा में करना कोई सहज काम नहीं। इस पर हमने इस बात की खोज की कि इन निबंधों में से किसी का किसी और भाषा में अनुवाद हुआ है या नहीं। खोज का फल यह हुआ कि हमें माण्डूक्योपनिषद् का उर्दू और आर्य-भाषा में, और "The Realities of Inner life" (आध्यात्मिक जीवन के तत्त्व), Pecuniomania (धन का डाह), और A Reply to Mr. T. Williams Criticism on Niyoga (नियोग पर टी० विलियम्स साहब की दोषालोचना का उत्तर) इन तीन का उर्दू में छपा हुआ अनुवाद मिल गया।

माण्डूक्योपनिषद् का भाषानुवाद "पंजाब मांसभक्षणवर्जनी सभा, लाहौर" के मंत्री श्रीयुत मास्टर आत्मारामजी का किया हुआ है। पण्डितजी के लेखों के अनुवाद का यही प्रथम परिश्रम है। परन्तु इसकी भाषा कुछ पुराने ढंग की है। यथा (क) सृष्टि इसकी दिव्य दृष्टि में योग्य अङ्गों का एक महान् शरीरवत प्रतीत होती है। (ख) बहुत उसके अनुभव (उसके बहुत अनुभव)। (ग) केवल कुछ भाग उसके संग्रहीत अनुभव के (उसके संग्रहीत अनुभव के केवल कुछ भाग)। (घ) जो व्यापक मेरे में है (जो मेरे में व्यापक है)। मान्ते (मानते), वैदिक (वैद्यक), आकर्षन (आकर्षण), ठैर (ठहर), अन्तरगत (अन्तर्गत), सिक्षा (शिक्षा), अग्नीन्ता वायु। इसके अतिरिक्त और भी शब्द हैं जो प्रयोग में नहीं आते। महांता (महत्ता) संक्षेप स्वरूप (संक्षिप्त स्वरूप)। अनुवाद में स्वतन्त्रता भी वर्ती गई है। पृष्ठ ४७ पर अथर्व-वेद काण्ड १० प्र० २३, अनु० ४, मंत्र ३२,३३,३४ का जो अर्थ दिया गया है वह सर्वथा स्वतन्त्र है। पण्डित गुरुदत्त

ने जो अर्थ अँगरेज़ी में दिए हैं उनके साथ इसका कोई सम्बंध नहीं। फिर पृष्ठ ७४ पर उपनिषद् वचन का जो अर्थ दिया गया है वह भी ऐसा है। इसके अतिरिक्त अनेक शब्दों और वाक्यों का अनुवाद ठीक नहीं हुआ,जैसे Unexpected का अनुवाद आशा रहित और Existence का सत्यता किया गया है। इनके लिए ठीक शब्द आकस्मिक और अस्तित्व ही हैं। पृष्ठ ३४ पर soul outwardly stamps matter with its impress का अनुवाद "आत्मा अपने से भिन्न वस्तु को अंकित करता है" दिया गया है जो कि अशुद्ध है।

माण्डूक्य का उर्दू अनुवाद "ओंकार उपासना" नाम से श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा,पञ्जाब,लाहौर की निगरानी में तैयार हुआ है। इसमें भी अनेक वाक्य बड़े ही अस्पष्ट हैं। उनका अभिप्राय सुगमता से समझ में नहीं आता। देखिए पृष्ठ २४ पर यह पाठ छपा है—"क्योंकि जब तक हिस का असूल पूरे तौर पर कायम न हो ले, इदराक और तसव्वुफ का मादा पैदा नहीं हो सकता और जब कि इदराक की काबलीयत मुनासिब दिली खयालात से पैदा हो गई, इसके बाद सिर्फ तब ही मुकाबला और इमतियाज़ की ताकतें कायम (?) कर सकती हैं और दिली तासरात को जिन्सवार मुरत्तिब शुदा इलामती खयालात में दाखल कर सकती हैं। यही खयालात हैं जिनको हाफज़ा बड़ी होशियारी से पकड़ता और इकट्ठे किए जाता है।" अब इसका आशय सर्वथा अस्पष्ट है।

इसमें अनुवाद की भी अनेक अशुद्धियां हैं। जैसा कि पृष्ठ ४ पर earth का अनुवाद (चन्द्र), और 'Excursion of the molecules along free paths का "लतीफ ज़र्रात एक खास जानिब से इधर उधर चक्कर लगाते हैं" किया है। यहां free paths के लिए "एक खास जानिब से" के स्थान में "उन्मुक्त मार्गों से" होना चाहिए था।

"The Realities of Inner Life" (आध्यात्मिक जीवन के तत्त्व) का उर्दू अनुवाद, "रूहानी ज़िन्दगी की हक़ीकतें,"ज़ेरे निगरानी व एहतिमाम महाशय वज़ीर चन्द्र अधिष्ठाता आर्य पुस्तक प्रचार' हुआ है इस में मनमानी छोड़ छाड़ की गई है। उदाहरणार्थ अँगरेज़ी पुस्तक के पृष्ठ २३१ की पंक्तियां छोड़ दी गई हैं—Yes, the veil must be removed, the brute in man crushed, before the influx of the Divine Light can be realised. फिर इसी प्रकार पृष्ठ २३४ की इन लाइनों का अनुवाद नहीं दिया—He who styles himself an honest citizen is unjustly living upon heavy profits fitched from the influx of hopeless men. इसके] अतिरिक्त अनुवाद में भी कहीं कहीं मन मानी की गई है, यथा She will speak to you of the various elements, the combinations and uses of the gases (page 232) का अनुवाद यह किया है—वह आप को मुख्तलिफ

(भिन्नभिन्न) अनासरों (तत्त्वों) के इतिसाल (संयोग) और इनफिसाल (वियोग) और बुखारात (भाफों) के हाल से आप को मतले (सूचित) करेगा।" इसी प्रकार The universe is fully of the Lord, and there is nothing of the universe which is not of the Lord. का अनुवाद यह किया है—"सारी कायनात (सृष्टि) उस मालिके कुल (सब के स्वामी) से भरपूर है, और [illegible] कोई चीज़ उस मालिक के इखतियार व इकतिदार (शक्ति) से बाहर नहीं है।" फिर उर्दू पुस्तक के १३वें पृष्ठ पर जो "गरीब नेकी की दौलतमन्द बदी की निसबत ज़ियादा ख्वाहिश की जाती है" लिखा है इसके स्थान में मूल अङ्गरेज़ी शब्दों के अनुसार यह चाहिए था—"दौलतमन्द बदी की गरीब नेकी की निसबत ज़ियादा ख्वाहिश की जाती है।"

Pecuniomonia (धन का डाह) का उर्दू अनुवाद भी आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब द्वारा प्रतिष्ठित आर्य पुस्तक प्रचार के अधिष्ठाता महाशय वज़ीर चन्द्र के प्रबन्ध और निगरानी में तैयार हुआ है। इस अनुवाद में भी बहुत कुछ मन मानी की गई है। इसके पहले ही पृष्ठ पर जो मनु० अ० २, श्लोक १३ का अनुवाद दिया गया है वह मन माना है। वह लेखक के मूल अँगरेज़ी शब्दों का अनुवाद नहीं। पण्डित गुरुदत्त ने श्लोक का केवल शब्दार्थ ही नहीं दिया। उन्हों ने अपनी ओर से व्याख्या भी की है। पर इस उर्दू पुस्तक में अनुवादक ने श्लोक के अपनी ओर से केवल अर्थ ही दिए हैं।

फिर कहीं कहीं भाषा ऐसी बेढंगी लिखी गई है कि उसका कुछ भी अर्थ समझ में नहीं आता। मूल अँगरेज़ी पुस्तक में एक स्थल पर ये शब्द हैं—Finally materialism, which I do not mean this or that scientific theory of the universe, but that devotion to the mere husks and rinds of good इनका अनुवाद उर्दू में इस प्रकार किया गया है—'चुहारम माद्दी अकीदत है। इस से भी मेरी मुराद कायनात की इस या उस इलमी थ्युरी से नहीं है, बल्कि उस अकीदे से है जो कि नेकी की सिर्फ ज़ाहरा टीप टाप में लगाता है।' अब इस वाक्य का अर्थ समझना कोई सहज बात नहीं।

कई स्थलों पर मूल अँगरेज़ी शब्दों को समझने में भी गलती खाई है। देखिए अँगरेज़ी पुस्तक के पृष्ठ २५० पर यह पाठ है—"And it is the foundation of these very conditions that he headlong pursuit of money undermines," इस का अनुवाद यह किया है—"इन्हीं के ज़ोर से अँधाधुन्द मुहब्बते दौलत की बेखकनी की जा सकती है" (पृष्ठ २२) पर अँगरेज़ी शब्दों का आशय इस के सर्वथा प्रतिकूल है।

फिर कई अँगरेज़ी वाक्यों का अनुवाद दिया ही नहीं गया। उन्हें

सर्वथा छोड़ दिया गया है। जैसा कि अँगरेज़ी पुस्तक के पृष्ठ २४७ पर की इन सात लाइनों को बिलकुल छोड़ दिया है—

Lawyers, instead of breeding feelings of peaceful friendship and encouraging reconciliation, encourage feud and strife, and fan the flames of haughty pride or revengeful animosity. Tradesmen instead of administering to the wants and needs of the people, and regulating with justice the law of demand and supply, get all they can, and give us little, keep their trade recipes secret or patented, and delude the ignorant consumers with adulterated materials. फिर इसी प्रकार अँगरेज़ी पुस्तक के पृष्ठ २५३ के इस वाक्य का अनुवाद नहीं दिया गया—"Even the industrious dexterity and skilful ingenuity have bowed under the swaying omnipotence of new ideas."

"टी० विलियम्स साहब की नियोग पर दोषालोचना का उत्तर" यह उर्दू अनुवाद बाबू परमानन्द विद्यार्थी तथा बाबू रत्नलाल विद्यार्थी के धर्म्म-प्रेम का फल है। अनुवाद में भी उपर्युक्त अनुवादों की तरह कई एक त्रुटियाँ हैं। इस में shall succeed in the name of his brother which is dead that his name be not put out of Israel. इस वाक्य का अनुवाद यह दिया है—"अपने मरहूम बाप के नाम पर तख़्त नशीन होता"। पर चाहिए यह—"अपने मरहूम बाप का जा निशीन होता।"

फिर Accused का अनुवाद 'मुलज़िम' के स्थान में 'मुजरिम', और mean motive का 'कमीना ग़र्ज़' के स्थान में "कमीना बुग्ज़" किया गया है।

इस के अनेक वाक्य ऐसे भी हैं जो अधूरे और बेढंगे से जान पड़ते हैं यथा-"विलियम्स अपनी सच्ची क्रिश्चियन खासियत को इज़हार करते हुये अपने मिशन के हथियारों को दयानन्द की तरफ़ फेंकता है, और उनको लानत मुलामत का मुस्तहिक बतलाता है। यह भी उन्हीं इलज़ामों में से जो ठीक ठीक टी० विलियम्स के खुदा पर आइद होते हैं" (पृष्ठ २०)। इस के सिर पैर का कुछ पता नहीं लगता।

इस दोष-प्रदर्शन से हमारा उद्देश्य अनुवादक महाशयों की हँसी उड़ाना या उनके परिश्रम, के महत्त्व को घटाना नहीं। इस से हम अपने पाठकों पर यही सिद्ध करना चाहते हैं कि पण्डित गुरुदत्त के लेखों का अनुवाद करना कितना कठिन कार्य है। हम ने अपने इस अनुवाद में उपर्युक्त अनुवादों के गुण तो प्रायः सब ले लिए हैं पर उनका दोष यथासम्भव कोई भी नहीं आने

दिया। हम ने पण्डित जी के एक एक शब्द का अनुवाद किया है। मूल की कोई भी बात नहीं छोड़ी, और न ही अपनी ओर से कोई नया विषय बढ़ाया है। पण्डित गुरुदत्त बहुत बड़े विद्वान् थे। उनकी लेखनी में अद्भुत और आश्चर्यकारिणी शक्ति थी। वे विज्ञान के प्रोफेर (महोपाध्याय) थे। इसलिए स्थल स्थल पर उनके निबंधों में विशेषतः वेद-वाक्यों में—क्लिष्ट वैज्ञानिक बातें मिलती हैं' उन के विचार अत्यन्त गहन और गम्भीर हैं। अतएव इस अनुवाद में हमें बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। इस बात को वही लोग अच्छी तरह समझ सकेंगे जिन को कभी इस प्रकार की क्लिष्ट और गम्भीर-विवेचना-पूर्ण पुस्तक के अनुवाद करने का समय आया होगा।

इस अनुवाद में भाषा के सौन्दर्य पर हम ने अधिक ध्यान नहीं दिया। हां, यथाशक्ति हर प्रकार से भाषा को सरल और सब की समझ में आने योग्य बनाने का यत्न किया है। फिर भी विवश होकर हमें बहुत से स्थलों पर संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है। पर मूल लेखक की भाषा इतनी क्लिष्ट, बह्वर्थगर्भि है और उसके वाक्य इतने लम्बे और जटिल हैं कि हमें इस यत्न में बहुत कम सफलता हुई है। उर्दू में जो अनुवाद मिलते हैं उनकी भाषा भी ऐसी क्लिष्ट है कि फारसी के अच्छे ख़ासे मौलवी के बिना वह और किसी की समझ में कठिनता से ही आ सकती है। उर्दू और अङ्गरेज़ी की क्लिष्टता का ध्यान करके यदि हम अपने अनुवाद की भाषा को सीधी सादी कह दें तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी। अस्तु भाषा चाहे कैसी हो अभिप्राय समझ में आजाना चाहिए। इसलिए हमने भाषा-सौन्दर्य को गौण रखकर मूल के भाव को ठीक ठीक उतारने की ही चेष्टा की है।

अनुवाद की कठिनता को अङ्गरेज़ी पुस्तक की प्रूफ-सम्बन्धी अशुद्धियों ने और बढ़ा दिया है। इस पुस्तक की प्रकाशिका, दी आर्यन प्रिन्टिङ्ग, एण्ड पब्लिशिङ्ग कम्पनी ने इसके प्रकाशन में ज़रा भी परिश्रम किया प्रतीत नहीं होता। पुस्तक का कोई भी पृष्ठ ऐसा नहीं जिस में दस बीस अशुद्धियां न हों। कई स्थलों में तो पृष्ठ सर्वथा उलट पलट कहीं के कहीं छप गये हैं। प्रूफ की अशुद्धियां इतनी भारी भारी हैं कि शुद्ध पाठ का पता लगाने में बड़ी कठिनता होती है। आर्य पुस्तकों के प्रकाशकों के लिए ऐसी असावधानता सर्वथा अक्षन्तव्य है, क्योंकि इस से पुस्तक की उपयोगिता बहुत घट जाती है। अङ्गरेज़ी पुस्तकें जैसी शुद्ध और सुन्दर आजकल छपती हैं उसका विचार करके यह कहने में तनिक भी सङ्कोच नहीं होता कि ऐसी गन्दी और अशुद्ध छपी हुई पुस्तक को कोई भी अङ्गरेज़ी भाषा भाषी हाथ लगाना पसन्द न करेगा। इस लिए हमारे पुस्तक प्रकाशकों को छपाई की अशुद्धियों को दूर करने का विशेष प्रयत्न करना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक में हमने पण्डित गुरुदत्त के लेखों के अनुवाद के अतिरिक्त उनके सम्पादक की लिखी भूमिका का अनुवाद भी दे दिया है। साथ ही हम ने अँगरेज़ी में लिखे पण्डित गुरुदत्त के जीवन चरित्र का भाषान्तर भी आरम्भ में लगा दिया है क्योंकि किसी पुस्तक को पढ़ते समय पढ़ने वाले के मन में पुस्तक-कर्त्ता का परिचय प्राप्त करने की इच्छा सहज ही उत्पन्न होती है। पण्डित गुरुदत्त के सम्बंध में हाल ही में एक नई बात का पता लगा है। इसके बताने वाले पण्डितजी के मित्र और रीटायर्ड एक्स्टरा असिस्टेण्ट कमिश्नर सरदार रूपसिंहजी हैं। उन्होंने आर्य-सामाजिक पत्रों में छपवाया है कि पण्डित गुरुदत्तजी ने उनको बतलाया था कि 'ऋषि दयानन्द अपने मुक्तिधाम को पधारने के दिन अजमेर में एक कमरे में लेटे हुए थे। मुझे उन्होंने अपने सरहाने की ओर बिठलाया था। उस समय और दूसरा कोई कमरे में न था। चुप चाप बैठे मैं ने क्या देखा कि एक दयानन्द चारपाई पर लेटा हुआ है और दूसरा दयानन्द छत्त के पास बैठा हुआ व्याख्यान दे रहा है। मैं विस्मित होकर नीचे और ऊपर देखता था। यह एक दृश्य था जिसने मुझे योगी की योग-शक्ति पर पूरा विश्वास करा दिया और ईश्वर के अस्तित्व में मेरा पूर्ण निश्चय हो गया।'

पण्डित गुरुदत्त ऐसे विद्यावारिधि के ग्रन्थों का अनुवाद करने की हम में यथेष्ट योग्यता नहीं। फिर भी इन परमोपयोगी लेखों के अनुवाद से होने वाले लाभों के विचार से हम ने जो यह चपलता की है, उसे आशा है, विचारशील पाठक क्षमा करेंगे।

पुरानी बसी—होशियारपुर
१ मार्गशीर्ष सम्वत् १९७५.

सन्तराम बी० ए०

एष हि द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः। प्रश्नो० ४, ९।

हां, जीवात्मा वह है जो देखती, स्पर्श करती, सुनती, सूंघती, चखती, इच्छा करती, जानती, काम करती, और प्रत्येक चीज़ को समझती है। जीवात्मा ही सच्चा चेतन मनुष्य है।

जीवात्मा के अस्तित्व के प्रमाण।

अविद्या कैसी दुःखदाई है। पतञ्जलि कहते हैं कि अविद्या ही एक ऐसी भूमि है जहां पाप जड़ पकड़ सकते और फैल सकते हैं। * और है भी यह ठीक। संसार के सभी पाप नैसर्गिक शक्तियों को विमार्ग पर लगाने से ही पैदा होते हैं। इसका कारण भी अन्त में अविद्या ही है। यों तो अविद्या सब कहीं बुरी है पर मनुष्य की आत्म-विषयिक अविद्या सब से बढ़कर हानिकारक है। अविद्या के मूर्छितकारी प्रभाव के नीचे लोग अपने आपको अपने जीवन-सार से वञ्चित समझने लगते हैं। संसार के नाम मात्र धर्म्म भी, आजकल के जड़वादियों के विषयाश्रित बाह्यवाद (objective externalism) की अपेक्षा, सन्देहवाद, बल्कि पूरे२ शून्यवाद के प्रचार में कुछ कम यत्न नहीं कर रहे। सच तो यह है कि शून्यवाद को फैलाने में दार्शनिक और वैज्ञानिक लोगों के सरल और तर्क-संगत निश्चयों ने उतना भाग नहीं लिया जितना कि नाम मात्र धर्म्मों की धार्म्मिक शिक्षाओं ने लिया है। जिन परिणामों पर निर्व्याज जिज्ञासु, और निष्पक्ष विचारक पहुंचे हैं उनमें अधिक से अधिक बुरी बात यही है कि वे संदिग्ध और अस्थिर हैं। वे केवल एक रहस्य अथवा शरीर और मन के बीच एक अनियत सम्बन्ध मानकर ही ठहर जाते हैं। परन्तु हमारे सभी धर्म्मों के ब्रह्मज्ञानी दल से आगे जाते हैं। उनकी प्रतिज्ञाएं निश्चित, अभिमानपूर्ण, और सन्देहरहित होती हैं। धार्म्मिक पादड़ी, जो पाश्चात्य जगत् के सर्वांग-पूर्ण राजनैतिक धर्म्म, अर्थात् लोक-प्रिय संस्कृत ईसाई धर्म्म, को मानता है प्रश्न का-आत्मा क्या वस्तु है? यह स्पष्ट उत्तर देता है, "और प्रभु परमेश्वर ने पृथ्वी की धूलि से मनुष्य (आदम) को बनाया; और उसकी नासिका में जीवन का श्वास फूंक

* योगसूत्र २, ४,

दिया, और मनुष्य एक जीवित आत्मा होगया।" * और मुहम्मद साहब का कुरान में दिया हुआ नफ़ख्तफ़िह का सिद्धान्त उसी की पुनरुक्ति मात्र है। वह प्रत्येक बात में बायबल के वर्णन की प्रतिध्वनि है। मुसलमान और ईसाई लोगों ने इस प्रकार ही जीवन और मृत्यु की महान् समस्या को हल किया है; और इस प्रकार ही जीवात्मा को एक श्वास मात्र बताया गया है। अपने नास्तिक ईसाई देश की बुद्धि के अनुसार महाकवि टेनीसन प्रकृति देवी के मुख से इस प्रकार उत्तर दिलाता है:—

"Thou makest thine appeal to me:
I bring to life, I bring to death:
The spirit does but mean the breath:
I know no more. †

अर्थात् आत्मा केवल एक फूंक है। इस से बढ़कर मुझे और कुछ मालूम नहीं।'

इस प्रकार जीवात्मा को न केवल इसके यथार्थ व्यापारों और शक्तियों से ही वञ्चित किया गया है किन्तु इस के अस्तित्व से भी इनकार किया गया है। यह कैसी असंगत कल्पना है, क्योंकि परमेश्वर के फेफड़े इस अनन्त अन्तरिक्ष में विचरने वाले असंख्य लोकों के संख्यातीत प्राणियों को जीवित रखने के लिए प्राणभूत अग्नि के श्वास लगातार निकालते निकालते अवश्य थक जाते होंगे, जिससे उसे प्रत्येक सातवें दिन पूर्ण विश्राम का प्रयोजन होता है। यह कल्पना असंगत ही नहीं किन्तु घोर हानिकारक और भ्रमजनक भी है। क्योंकि इस से बढ़कर अनिष्टकर और क्या हो सकता है कि मनुष्य को एक शून्यता, एक आभास और एक श्वास मात्र बताया जाय।

एक बार इतना मान लीजिए कि मनुष्य की आत्मा कोई पदार्थ नहीं, या प्रकृति के समान प्रत्यक्ष और वास्तविक सत्ता नहीं, (बल्कि यह उससे भी अधिक वास्तविक है); बौद्धों की तरह, एक वार मान लीजिए कि मनुष्य जीवन आकाश के क्षणिक उल्का के सदृश गुज़र जाने वाली नश्वर चिंगारी है; या, ईसाइयों की तरह, यह केवल एक फूंक है; या, आधुनिक विषयाश्रित विकासवादियों की तरह, यह मान लीजिए, कि 'आत्मा केवल एक कल्पना है जो कि सभ्य जातियों को अपने जंगली बाप दादा से विरसे में मिली है, ये जंगली लोग जब स्वप्न में किसी मित्र को अपने साथ बातें करते देखते थे और जागने पर जब वे उसे अपने पास नहीं पाते थे तब उनके अन्दर यह भावना

*उत्पत्ति पुस्तक, २, ७।

† In Memoriam, 56,2.

उत्पन्न होती थी कि प्रत्येक मनुष्य का उसके अनुरूप एक अदृश्य दूसरा आत्मा अवश्य है जो कि स्वप्नों में प्रकट होता है परन्तु वह स्पर्शनीय नहीं है; एक बार मनुष्य-आत्मा का अभाव मान लीजिए और फिर देखिए कि सारे धर्म्म और सारे आचार का बना बनाया भवन किस प्रकार भूतलशायी हो जाता है। क्या मुक्ति को मुफ्त लुटाने वाले अलौकिक ईसाई धर्म्म का भवन आत्म-बुद्धि की इस रेतीली नींव पर खड़ा हो सकता है? ऐ वृथाभिमानी ईसाई! अपने ब्रह्मज्ञान को और अपनी मुक्ति की कल्पना को पोंछ डाल, क्योंकि आत्म कोई चीज़ नहीं जिसको बचाया जाए। जिसको तुम बचाना चाहते हो वह केवल एक आभास और एक श्वास मात्र है। यह कोई सार वस्तु नहीं। और ऐ मुसलमानों! अपने पैगम्बर (भविष्यद्वादी) के माध्यस्थ्य के सिद्धान्त को तिलांजलि दे दो, क्योंकि यह माध्यस्थ्य केवल एक आभास को ही, जो कि पहले ही अन्तर्धान हो चुका है या, शायद, एक घड़ी में नष्ट हो जायगा, नरक में पड़ने से बचायगा। और हे तुम सब लोगो, जो आत्मा की उत्पत्ति* में अर्थात् परमेश्वर की आज्ञा से उसके शून्यता से उत्पन्न होने में विश्वास रखते हो, समझलो कि जो चीज शून्यता से पैदा हुई है वह फिर उसी भूत प्रलय में जा गिरेगी जिसमें कि वह प्रकट हुई थी, और उसका अभाव हो जायगा!

आत्मा के अभाव का मूढ़विश्वास या कुसंस्कार धर्म के केवल प्रारम्भिक स्तरों तक ही परिमित नहीं। यह सभ्य संसार में फैलना आरम्भ हो गया है, यहां तक कि यह 'वैज्ञानिक कल्पना' के किनारे तक पहुंच चुका है।

ब्रह्माण्ड के स्वाभाविक सृष्टि होने की कल्पना सारे भौतिक दृश्यचमत्कारों का कारण भौतिक पद्धतियों की रचना को या आकार के परिवर्तनों को बताकर ही बस नहीं कर देती, किन्तु वह जीवन तथा शरीर सम्बन्धी सभी दृश्य-चमत्कारों को भी पिण्ड और गति के तत्त्वों का ही परिणाम सिद्ध करने का यत्न करती है। वण्डट साहब शरीर शास्त्र के विषय में कहता है कि "जो वाद अब (शरीर-शास्त्र में) प्रधान हो रहा है, और जिसे साधारणतः स्वाभाविक सृष्टिवाद या भौतिक वाद कहा जाता है, उसका मूल वह कारणिक कल्पना है जो कि सृष्टि-विज्ञान की सजातीय शाखाओं में चिरकाल से प्रचलित है। सृष्टि विज्ञान प्रकृति को कारणों और कार्यों की एक ऐसी लड़ी समझता है जिसमें कि कारणिक कर्मों के अन्तिम नियम यंत्रगति-विद्या के नियम हैं। इस प्रकार शरीर-शास्त्र व्यावहारिक पदार्थ-विद्या की एक शाखा मालूम होता है। इस की समस्या प्राणभूत दृश्य-चमत्कारों को साधारण भौतिक नियमों और, इस प्रकार, अन्ततः यंत्रगति-विद्या

*"उत्पत्ति, उत्कर्ष और अमर जीवन आत्मा के विशेष गुण हैं।" ब्राह्मसमाज ट्रैक्ट, "सिध्दान्तसूत्रम्; नवीनचन्द्रराय द्वारा अनुवादित, प्रकरण ३, सूत्र ३५।

के मौलिक नियमों का परिणाम सिद्ध करना है।" फिर अध्यापक हेकल और भी स्पष्ट शब्दों में कहता है,—"विकास का साधारण सिद्धान्त यह मानता है कि प्रकृति में उत्कर्ष का एक महान, निरन्तर, और चिरस्थाई क्रम जारी है, और कि सारे नैसर्गिक दृश्य-चमत्कार, बिना किसी अपवाद के, आकाशस्थ लोकों की गति और लुढ़कते हुए पत्थर के पतन से लेकर पौधे की वृद्धि और मनुष्य की चेतना तक, कारणत्व के उसी महान् नियम के अधीन हैं—अर्थात् वे अन्ततः परमाणु-गतिशास्त्र के रूप में प्रकट होते हैं।" केवल इतना ही नहीं, किन्तु हेकल यह भी कहता है कि यह सिद्धान्त सृष्टि का युक्ति-संगत समाधान है, और कारणिक सम्बन्धों के लिये बुद्धि की याचना को शान्त करता है, क्योंकि यह सृष्टि के सभी दृश्य-चमत्कारों को विकास के महान् क्रम के भागों के रूप में, या कारणों और कार्यों की माला के रूप में जोड़ देता है।" * सृष्टि के स्वाभाविक होने की इस कल्पना के असर से ही डाक्टर बुचनर (Dr. Buchner) ने अपनी Matter and Force नामक पुस्तक में मनोविज्ञान या आध्यात्मिक तत्वज्ञान के अस्तित्व से इनकार करदिया है। अनेक लोग समझते हैं कि सारी शक्ति और सारे मन की कैफ़ियत देने के लिए प्रकृति और उसकी रासायनिक क्रियाएँ ही पर्याप्त हैं। फिर अनेक लोग ऐसे भी हैं जो व्यक्तित्व, अमरत्व, या प्रकृति की स्वतंत्रता की भावना को कुसंस्कार या असंगति समझते हैं। यह दार्शनिक और वैज्ञानिक लोगों की बात है जिनको दिन रात संपूर्ण विनाश का भय बना रहता है।

यद्यपि यह बात सत्य है कि पाश्चात्य देशों में विज्ञान और धर्म्म के बड़े २ केन्द्रों में इस जड़वाद का चिरकाल तक प्रचार रहा है और अब भी प्रचार है तथापि यह बात ध्यान देने योग्य है कि समय २ पर ऐसे मनुष्य पैदा होते रहे हैं जिन्होंने निर्भय होकर प्रकृति के प्रदेशों की छान बीन की है और विशुद्ध सत्य को समझने तथा बताने का यत्न किया है।

शरीर-शास्त्र में गहरी खोज करने से यह बात मालूम हुई है कि मनुष्य-शरीर में स्वयं-स्थिति-पालक शक्ति मौजूद है। और भिन्न भिन्न कालों के वैद्य और चिकित्सक लोग अपने रोगियों और मृतकों के वैद्यक अनुभव के आधार पर इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि मनुष्य देह में स्वयम्-उपशमकारिणी-शक्ति है जो कि रोग को बाहर निकाल कर रोगी को स्वस्थ कर देती है। औषधियां उस उपशमकारिणीशक्ति की केवल सहायता के लिये हैं। इस प्रकार वान-हलमन्ट एक सूत्र मानने पर बाध्य हुआ था। इस का नाम उसने "आर्च्युस"

* Stallo's Concepts Modern Physics, pp. 19-20.

(Archeus) रखा था और इसे वह जड़ और विश्वेष्ट प्रकृति से स्वतंत्र समझता था। यह सूत्र उस की राय में सब रोगों पर व्यापक था और विशेष ओषधियों में रोगियों को स्वस्थ और चंगा करने वाली पर्याप्त शक्ति भर सकता था। इसी सूत्र को स्टाहल ने एनिमा (anima) या चेतन शक्ति नाम से पुकारा था। इसे वह रोगों को दबाने के अतिरिक्त क्षतियों को पूरा करने वाला और पीड़ाओं को शान्त करने वाला भी मानता था। इसी सूत्र का नाम व्हायट ने "चेतन सूत्र" रखा था। डाक्टर कल्लन ने इसे (vis medicatrix nature) नाम दिया था; डाक्टर ब्राउन ने इसे Caloric कलोरिक नाम से, डाक्टर डार्विन ने इन्द्रिय-शक्ति (Sensorial energy) नाम से, रश ने "गुह्य कारण" नाम से. ब्राउसेस (Brousais) ने 'प्राणभूत रसायन' नाम से पुकारा था; और हूपर इसे 'प्राणभूत सूत्र' नाम देता है। सजीव शक्ति, स्थितिपालक बल, मनुष्य प्रकृति की युक्ति और जीवन की शक्तियां इत्यादि अनेक नाम इस सूत्र के और भी हैं।

जहां एक तरफ़ से डाक्टर और वैद्य लोग एक प्राणभूत सूत्र में विश्वास करने लगे हैं, वहां जीव-विद्या पर आनुमानिक कल्पना इतनी बढ़ गई है कि वह जीवन की उत्पत्ति के प्रश्न की जांच करने लगी है। और निष्कपट जिज्ञासु और सरल लेखक इस बात को स्वीकार करने के लिये बाध्य हुए हैं कि ' जीवन को भी एक कारण ही मान लिया जाय क्योंकि जो दृश्य-चमत्कार सारे सजीव जन्तु दिखलाते हैं उन में से अनेक ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध किसी भी ज्ञात भौतिक अथवा रासायनिक नियम के साथ दिखलाया नहीं जा सकता, और जिन को, कम से कम, थोड़ी देर के लिये हमें ज़रूर 'प्राणभूत' कहना पड़ेगा। *

यह भी माना गया है कि प्रोटोप्लाज़्म नाम का एक नमनीय कार्बन-मिश्रण है जो कि कार्बन, आक्सीजन, हाइड्रोजन, और नाइट्रोजन नामक चार अवियोज्य मूल-तत्त्वों का बना है, और यही जीवन का भौतिक आधार है। इसी कारण बहुधा जीवन की रचनामयी उत्पत्ति के सिद्धान्त पर ज़ोर दिया जाता है। परन्तु जीवन के इस भौतिक आधार का उल्लेख करते हुए यह अवश्य कहना पड़ेगा कि यद्यपि इन चार मूल-तत्त्वों की विद्यमानता बाहर से इसे भौतिक आधार ठहराती है तथापि इस बात में भारी संदेह है कि इस की रचना सदा एक ही सी नियत होती है। यह अभी दिखलाया नहीं गया कि सजीव द्रव्य, जिस का उचित नाम हमने प्रोटोप्लाज़्म रखा है, सब अवस्थाओं में और सब कहीं एक ही दृढ़ और स्थिर रासायनिक रचना रखता है; और वास्तव में ऐसे

* Nicholson's Manual of Zoology, 6th Edition, page 7.

† Ibid, p. 9, note

अनेक कारण हैं जिन से यह विश्वास करना पड़ता है कि इस की रचना नियत और स्थिर नहीं।'' इस के अतिरिक्त नीचतम जन्तुओं में दिखलाई देने वाले प्राणभूत दृश्य-चमत्कारों के विषय में वैज्ञानिक लोग यह स्वीकार करने पर वाध्य हुए हैं कि प्राणभूत दृश्य-चमत्कारों के लिये इन्द्रियविन्यास का होना कोई वास्तविक और आवश्यक शर्त नहीं है। अमीबा (Amœba) नामक जीवाणु के विषय में प्रोफेसर निकलसन कहते हैं,—यह जीवाणु, जिस का शरीर अर्द्ध तरल प्रोटोप्लाज़्म के जंगम पिण्ड से कुछ ही बड़ा होता है,भोजन को—जहां तक कि खुद परिणाम का सम्बन्ध है—वैसी ही उत्तमता से पचाता है जिस-प्रकार कि एक पूर्ण इन्द्रियां रखने वाला उच्चकोटि का जन्तु अपने जटिल पाचक-यंत्र (आमाशय) के साथ पचाता है। यह भोजन को अपने भीतर लेजाता है, बिना किसी पाचक-इन्द्रिय के उसे पचाता है; और इस के अतिरिक्त इस में वह गहन निर्वाचन-शक्ति है जिस के द्वारा यह अपने भोजन में से अपने-लिये-आवश्यक तत्त्वों को निकाल कर अवशिष्ट को फेंक देता है। इस लिये, हमारे ज्ञान की वर्तमान अवस्था में, हमें यह परिणाम निकालना पड़ता है कि पाचन-क्रिया में भी जैसी कि यह अमीबा में दिखाई देती है, कुछ ऐसी बात हैं जो कि केवल भौतिक या रासायनिक ही नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक शरीर में, मरने के झट ही बाद, पहले ही सा प्रोटोप्लाज़्म, उसी रूप और उसी व्यवस्था में मौजूद होता है: परन्तु स्पष्ट रूप से उस में उस चीज़ का अभाव हो जाता है जिस से कि उस के सभी विशेष गुण और क्रियाएं नियमित, प्रत्युत कुछ एक तो उत्पन्न भी होती थीं। वह कुछ क्या है यह हम नहीं जानते, और शायद कभी जानेंगे भी नहीं: और यह सम्भव है, यद्यपि बहुत अनुपपन्न है, कि भावी आविष्कार शायद सिद्ध करदें कि यह किसी भौतिक शक्ति का रूपान्तर मात्र है।......यह बहुत ही सम्भाव्य मालूम होता है कि प्रत्येक प्राणभूत क्रिया में कुछ चीज़ ऐसी होती है जो कि केवल भौतिक और रासायनिक ही नहीं होती,प्रत्युत जो एक अज्ञात शक्ति द्वारा व्यवस्थित होती है। यह शक्ति दूसरी सभी शक्तियों की अपेक्षा उच्चतर, श्रेष्ठतर, और उन से सर्वथा विभिन्न होती है। इस प्राणभूत 'शक्ति' की विद्यमानता पोषण के अतीव सरल दृश्य-चमत्कारों में भी देखी जा सकती है, और इस समय तक सन्तानोत्पति के दृश्य-चमत्कारों को किसी ज्ञात भौतिक अथवा रासायनिक शक्ति की क्रिया द्वारा स्पष्ट करने का यत्न नहीं हुआ।''*

उसी का वर्णन करते हुए प्रोफेसर हक्सले कहता है:— "ग्रे॰रिनिडा (Gregarinida) के शरीर से नीचतर शरीर की कल्पना करना कठिन मालूम

* Nicholson's Zoology, 6th Edition, pp. 12-13.

होता है, फिर भी अनेक रहाइज़ोपोडा Rhizopoda इस से भी अधिक सादा हैं। न ही कोई और ऐसा जन्तु-समूह है जो इस अतीव दृढ़ सिद्धान्त को कि जीवन इन्द्रियविन्यास का कारण है, उसका कार्य नहीं, अधिक स्पष्ट रीति से प्रकट करता हो, क्योंकि इन नीचतम जन्तुओं में इन्द्रियविन्यास के नाम से पुकारे जाने योग्य बिल्कुल कोई वस्तु नहीं जिसे कि सूक्ष्मदर्शकयंत्र से काम लेने वाले लोग नव-निर्माणित सुन्दर यन्त्रों की सहायता से मालूम करसकें। इन जन्तुओं में से अनेक का शरीर गाढ़े रस के एक पिण्ड के सिवा और कुछ भी नहीं। इसे आप पतले सरेश का एक छोटा सा कण समझिए। इसका यह मतलब नहीं कि इसकी रचना सरेश से मिलती है प्रत्युत इसकी बनावट और रूप उसके सदृश होते हैं; यह रचना और इन्द्रियों से रहित होता है, और न ही इसके अवयव नियत रूप से बने होते हैं। इस पर भी इस में जीवन के सभी आवश्यक विशेष गुण और चिन्ह होते हैं। यह एक अपने जैसे शरीर से ही उत्पन्न होता है, और भोजन को पचाने और चेष्टा करने में समर्थ होता है। इतना ही नहीं, यह एक सीपी अर्थात्—एक रचना—पैदा कर सकता है। यह रचना या सीपी अनेक अवस्थाओं में असाधारण जटिल और बहुत सुन्दर भी होती है।

"गाढ़े रस के इस कण का, आप रचना-शून्य और अवयवों के स्थायी भेद या भिन्नता से रहित होने पर भी, उन उत्कृष्ट और प्रायः गणित-शास्त्रानुसार सुव्यवस्थित रचनाओं को उत्पन्न करने के लिए भौतिक शक्तियों को मार्ग दिखाने में समर्थ होना मुझे एक बहुत ही भारी महत्व की बात मालूम होती है।"*

वह परिणाम जिस पर कि उपर्युक्त बातें हमें पहुंचाती हैं, और जिस पर कि हेकल पहुंचा है यह है कि "उनके शरीरों तथा उनकी इन्द्रियों के आकार सर्वथा उनके जीवन का ही परिणाम हैं।" इससे यह स्पष्ट है कि चाहे इसे जीवन, प्राणभूत सूत्र, व्यवस्थापक सूत्र, गुह्यकारण, इन्द्रिय-शक्ति, vis medicatrix naturæ, और चेतन-शक्ति आदि किसी भी नाम से पुकारो, आधुनिक वैज्ञानिक जगत् एक ऐसी सत्ता को देखने लगा है जिसका सम्बन्ध कि गतिशास्त्र-सम्बन्धी शरीरविद्या Dynamic Physiology से है। इस सत्ता को वह जीवन नाम देता है। अब यह केवल एक श्वास, केवल एक आभास, या इन्द्रियविन्यास की केवल एक उपज ही नहीं रहा। अब तो यह एक सूक्ष्म, शुद्ध, गति-सम्बन्धी पदार्थ है, एक ऐसी सत्ता

* An Introduction to the classifications of animals by Thomas Henry Huxley. L. L. D., F. R. S., London. 1896 pp. 10-11.

है जो इन्द्रियों की रचना करती है, जो वृद्धि, जीवन-शक्ति और गति को पैदा करती, जो घावों को भरती, क्षतियों को पूरा करती, खाती पीती, और अनुभव करती है, जो चैतन्य-युक्त है, जो कर्म्मों को पैदा करती है, और जो रोगों को रोकती, दबाती, और चंगा करती है। यह है वह अनिवार्य परिणाम जिस पर कि पाश्चात्य देशों में निष्कपट जिज्ञासु और दार्शनिक लोग शरीर-शास्त्र-सम्बन्धी खोजों द्वारा पहुंचे हैं। इस प्रकार वे एक ऐसी सत्ता को मानने पर बाध्य हुए हैं (यदि तुम्हें अच्छा लगता है तो इसे भौतिक कहदो, पर है यह एक सत्ता) जिसे कि पूर्व के प्राचीन दार्शनिकों ने **आत्मा** नाम दिया था।

इस विषय में हमने जान बूझ कर प्राचीन पूर्वीय विचारकों के प्रमाण नहीं दिये। इस का स्पष्ट कारण यह है कि वर्तमान कालीन भारत अपनी मानसिक चेष्टा, धर्म, श्रद्धा, और विश्वास मुख्यतः सभ्य पाश्चात्य इंगलैण्ड से ही प्राप्त करता है। यदि हम शुरू में ही अक्षरशः ठीक इन्हीं बातों को साबित करने के लिये प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के प्रमाण उपस्थित करते, तो इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि इन को विना किसी संकोच के मूढविश्वासी, अव्यवस्थितचित्त, अवैज्ञानिक, और गले सड़े विचार वाले लोगों की बातें कह दिया जाता; यद्यपि इस विषय पर पाश्चात्य विद्वानों का अच्छे से अच्छा प्रमाण उपस्थित किया गया है फिर भी प्रमाण की वह सुव्यवस्थित और सर्वाङ्गपूर्ण परिगणना नहीं मिलती जो कि एक निश्चित और अवधारित सम्मति का विशेष गुण है।

अब हम अपने यथार्थ विषय, 'जीवात्मा के अस्तित्व के प्रमाण' को वैशेषिक दर्शन की दृष्टि से लेते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है आर्यावर्त के प्राचीन तत्त्ववेत्ता इस प्राणभूत सूत्र को **आत्मा** कहते थे। वैशेषिक दर्शन वालों ने इसे अपने नौ द्रव्यों में से एक द्रव्य माना है। वैशेषिक में द्रव्य उसे कहते हैं जिस में गुण और क्रिया हों,* अथवा जिस को अंगरेजी तत्त्वज्ञान में एक **सबस्टेन्स** (Substance), या, इस से भी बढ़ कर, एक **सबस्ट्रेटम** (गुणाश्रय), या **नाउमेनन** Noumenon कहा जाएगा। अतः यह स्पष्ट है कि आत्मा एक सत्ता है, जगत् के नौ मूलद्रव्यों (नाउमेना) में से एक मूलद्रव्य है और एक वस्तु है जिस में कि गुण और क्रिया अन्तर्निष्ठ हैं।

इस लिये हमें अपने आत्मा-सम्बन्धी पहले विचारों को निकाल देना चाहिये जिस से, इस दर्शन के अनुसार हम उस के स्वरूप को अधिक उत्तम रीति से समझ सकें। अंगरेज़ वेदान्ती आत्मा को प्रायः कोई अभौतिक शून्यता

* क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥ वैशेषिक सूत्र १, १, १५।

समझने के कारण इस बात का कोई उत्तर नहीं दे सकते कि मन वाह्य जगत् को कैसे जानता और उस पर कैसे क्रिया करता है। मानव मन को सर्वथा अभौतिक अर्थात् प्रकृति के सभी विशेष गुणों से जहां तक कि प्रकृति का वास्तविकता विस्तार या स्थान घेरने के गुण से भी रहित मान लेने के कारण उनकी बुद्धियों को वाह्य जगत् के प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रश्न होने पर मजबूरन ठहर जाना पडा है। उन्हों-ने प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण वाह्य जगत् के अनुभवों या दिव्य शक्ति द्वारा उत्पा-पादित संवादों को बताकर इस प्रश्न को हल करने का व्यर्थ यत्न किया क्योंकि प्रश्न अभी वैसा का वैसा ही बना रहा।

एक कोमल और नमनीय मोम की सिलाख लेकर उसे एक ऐसी सतह पर फैलाओ जिस पर कि एक ठोस, कठिन चित्र खुदा हुआ हो। मोम पर बडी सुगमता से वह चित्र बन जायगा। यह मोम पर संस्कार है। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि वाह्य पदार्थों का अनुभव उनके भौतिक होने के कारण सर्वथा अभौतिक आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नहीं हो सकता, क्योंकि हम उन पदार्थों के बीच जिन में कोई भी गुण सामान्य नहीं, किसी भी क्रिया की कल्पना नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ मन और प्रकृति को ले लीजिए। मन तो सर्वथा कल्पनात्मक, अदृश्य, अस्पृश्य, छायावत असार शून्यता है; और प्रकृति स्वतः विद्यमान, वाह्य, वास्तविक, दृश्य; स्पर्शनीय, और इन्द्रियग्राह्य है। इसी लिए यह कहा गया था कि पदार्थों के अनुभव में जो कुछ होता है वह यह है:-पहले पहल ज्ञाना-शय वाह्य पदार्थों का संस्कार ग्रहण करता है फिर ज्ञानाशय के इसी संस्कार का अनुभव अन्ततःआत्मा को होता है। परन्तु इससे समस्या हल नहीं होती। क्योंकि, यदि ज्ञानाशय वाह्य पदार्थों का संस्कार ग्रहण करता है तो चाहे कितना ही कोमल नमनीय और परिशोधित यह ज्ञानाशय क्यों न हो फिर भी यह भौतिक होगा क्योंकि चाहे कुछ ही क्यों न हो एक भौतिक वस्तु केवल दूसरी भौतिक वस्तु पर ही संस्कार पैदा कर सकती है। इस लिये वाह्य भौतिक जगत् का संस्कार ग्रहण करने के लिये खुद ज्ञानाशय का भौतिक होना आवश्यक है। यदि ज्ञाना-शय भौतिक है जैसा कि हम इसे मानने पर बाध्य हुए हैं, तो समस्या हल न हुई, क्योंकि यह कठिनाई अभी तक बनी हुई ही है कि सर्वथा अभौतिक मन ज्ञानाशय के भौतिक और वाह्य संस्कारों का किस प्रकार अनुभव कर सकता है।

कुछ दार्शनिकों का मत है कि ईश्वरीय मध्यस्थ्य ही इस कठिनता को दूर करने का एक मात्र साधन है इस लिए वे यह सिद्धान्त घड़ते हैं कि परमात्मा, सर्वशक्तिमान होने के कारण एक ओर तो भौतिक वाह्य जगतमें प्रकृति के भौतिक दृश्य-चमत्कार पैदा करता है, और दूसरी ओर मानस-जगत् में प्रत्यक्ष रूप से

अनुरूप आन्तरिक मानसिक परिवर्तन पैदा करता है। इसी से हमें प्रतिक्षण न केवल प्रकृति और प्रकृतिक दृश्य-चमत्कारों का ही प्रत्युत सदृश मानसिक चमत्कारों का भी, जो कि ईश्वरीय इच्छा की प्रत्यक्ष क्रिया के कारण स्वावलम्बी हैं, ज्ञान रहता है। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि यह सिद्धान्त बाह्यजगत् के प्रत्यक्षज्ञान का समाधान करने के स्थान में इसप्रकार के प्रत्यक्षज्ञान के अस्तित्व से ही बिलकुल इनकार करके इस जटिल ग्रन्थ को ही काट डालता है। इस सिद्धान्त के कारण हमें न केवल अपने प्रत्यक्ष ज्ञान से ही प्रत्युत खुद बाह्य जगत् से भी हाथ धो लेने पड़ते हैं, क्योंकि यदि हमें बाह्य जगत् का बोध न हो प्रत्युत ईश्वरीय माध्यस्थ्य की क्रिया से उत्पन्न हुए केवलमानसिक परिवर्तनों का ही ज्ञान हो, तो हमारे पास बाह्य जगत् के अस्तित्व का क्या प्रमाण है?

जब हम प्रकृति पर आत्मा की क्रिया के समान और सदृश प्रश्न पर विचार करने लगते हैं तो बाह्य जगत के प्रत्यक्ष ज्ञान का समाधान और भी कठिन हो जाता है। मान लीजिये कि यहां बीस सेर का एक लोहे का गोला पड़ा है। आत्मा की आज्ञा से बांह उठती है और गोले को उठा लेती है। अब यहां एक और रहस्य की व्याख्या की ज़रूरत होती है। एक सर्वथा अभौतिक आत्मा एक सर्वथा भौतिक और जड़ बीस सेर के गोले को कैसे उठा सकती है? अधीर पाठक उत्तर देगा कि गोला हाथ के कारण उठा है। लेकिन गोले के समान ही भौतिक हाथ को किस ने हिलाया? फिर शायद कोई यह भी कहे कि यह काम पट्ठों के नियम पूर्वक सिकुड़ने से हुआ, परन्तु पट्ठे भी भौतिक हैं, इस लिये प्रश्न वही बना रहता है कि पट्ठों को किसने सिकोड़ा? इस पर वृथाभिमानी शरीर शास्त्र वेत्ता कह सकता है कि मस्तिष्क से एक नाड़ीगत लहर आई और उस ने एक दम पट्ठों को सुकड़ लिया। पर मन के सन्मुख फिर भी यह प्रश्न रहता है कि नाड़ीगत लहर को किसने प्रोत्साहित किया? आप कहेंगे कि आत्मा के संकल्प ने। अब फिर यहां सारे प्रश्नों का एक प्रश्न आ उपस्थित होता है कि क्या अभौतिक आत्मा अपने अभौतिक संकल्प से, ठोस, सफेद, तन्तुमयी, कोमल भौतिक नाड़ियों को अपना नाड़ीगत रस छोड़ने और पट्ठों को सिकोड़ने के लिये उत्तेजित कर सकती है? इस लिये यह स्पष्ट है कि अन्तिम पहिली से बचने का कोई उपाय नहीं। तो फिर यह पहेली आई कहां से इस का उत्तर साफ है। आत्मा कोई सर्वथा अभौतिक असार, शून्य, छायावत् या प्रवास-रूप चीज़ है यह पहिले का बैठा हुआ झूठा ख्याल ही इस का जन्म दाता है।

एक बार इतना मान लीजिये, जैसाकि वैशेषिक दर्शन सिखाता है, कि

आत्मा वैसा ही द्रव्य है जैसा कि प्रकृति, वैसा ही गुणाश्रय या वस्तु है जैसा कि साधारण बाह्य पदार्थ, फिर यह स्पष्ट होजायगा कि किस प्रकार एक वस्तु दूसरी पर क्रिया कर सकती या उस के संस्कार को ग्रहण कर सकती है। यह विचित्र वस्तु, आत्मा, दो महान अभिव्यक्तियों—ऐच्छिक और अनैच्छिक—का स्थान है। आत्मा के ऐच्छिक या चेतन व्यापार प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुभव, और संकल्प हैं। इन का दूसरा नाम बुद्धि, सुख दुःख, इच्छा, द्वेष, और प्रयत्न भी है। यह ऐच्छिक व्यापार उन सब अध्यात्मवादियों के लिये विवाद का विषय बने रहे हैं जिन्होंने कि अज्ञान से या जानबूझ कर व्यापारों के दूसरे समूह-अर्थात् प्राणापान श्वास प्रश्वास) निमेषोन्मेष (आंख का झपकना,जीवन (शरीर निर्माण और चेतन)मनस् (ज्ञानेन्द्रिय), गति (चेष्टा), इन्द्रिय (इन्द्रियों का व्यापार) अन्तर्विकरण (ऐन्द्रियिक अनुभव) पर विचार नहीं किया। आत्मा के व्यापारों के इन दो समूहों को अलग२ कर देने का फल यह हुआ है कि अध्यामवादियों और वैज्ञानिक लोगों में झगड़ा हो गया है और दोनों ही आत्मा की वास्तविकता से इनकार कर रहे हैं। अध्यात्मवादी metaply sicians का आत्मा की वास्तविकता से इनकार करने का प्रत्यक्ष कारण यह है कि संवेदना (sensation) अनुभव (feeling) इच्छा, रुचि तथा प्रत्यय (desire and idea,) उपलब्धि (perception), और प्रत्यक्षज्ञान का कोई अपना स्वतंत्र आस्तित्व नहीं, किन्तु वे सुव्यवस्थित रचना में ही व्यक्त होते प्रतीत होते हैं। इस के अतिरिक्त अध्यात्मवादियों में सभी आन्तरिक या मानसिक बातों को वास्तविक या सत्य न मान कर उन्हें कल्पित या अद्भुत समझने की प्रवृति पाई जाती है। इस लिए प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुभव और इच्छा के साथ व्यवहार करते हुए वे मन (आत्मा) को उसके दृश्य चमत्कारों से कुछ अधिक वास्तविक नहीं समझते। यदि उनको आत्मा के अनैच्छिक व्यापारों का भी परिचय होता तो वे झट ही देख लेते कि वह सत्य कुछ चीज़ों जो शरीरों के बनाने या देह को सजीव करने जैसे स्पर्शनीय और वास्तविक दृश्य-चमत्कार पैदा करती है, या जो गति और गति की सहव्यवस्था पैदा करती है, एक सत्यता है जो चैतन्यपूर्वक अनुभव करती, जानती, और संकल्प करती है।

दूसरी तरफ वैज्ञानिक जगत् आत्मा की वास्तविकता से इस के विपरीत कारण से इनकार करने पर तुला हुआ है—अर्थात् विज्ञानियों का कहना है कि शरीरों के व्यापारों के विषय में जो बाह्य चमत्कार-सम्बन्धी खोजें हम ने की हैं उन से हमें जियादा से जियादा आत्मा की अनैच्छिक शक्तियों का ही पता मिलता है, और यह अन्यथा हो नहीं सकता था। क्योंकि सारा भौतिक जगत् मनोविज्ञान की दृष्टि से, केवल विषयाश्रित भाव है। आत्मा ही एक ऐसी वस्तु है

जो एक ही समय में विषयाश्रित और अध्यात्मिक दोनों हैं। अपने जडवाद और केवल इन्द्रिय-प्रमाण के भरोसे रहने की बद्धमूल प्रकृति के कारण, वैज्ञानिक लोगों ने आत्मा के केवल विषयाश्रित को ही ढूंढ पाया है, और फलतः वे शून्य-वाद में जा ठहरे हैं जो कि आत्मा के आध्यात्मिक पक्ष से इनकार करता है। ऐन्द्रियक द्रव्य (organic matter) के बाहर कहीं आत्मा की अनैच्छिक प्रवृत्तियों को न पाकर क्योंकि वे व्यक्त न होंगी, उन्होंने चैतन्य को एक स्वाधीन द्रव्य स्वीकार करने से ही इनकार कर दिया है। चूंकि जीवन को भी अन्य शक्तियों में से एक शक्ति समझना उन्हें अधिक प्रिय और एकरूप मालूम होता है, और चूंकि शक्तियों की इस सूची में चैतन्य का कोई स्थान नहीं, इसलिए यह अवश्य ही नैसर्गिक शक्तियों की अतीव जटिल क्रिया का अभिव्यक्त भ्रामक परिणाम होगा वे रसायन प्रीति युक्त प्रकृति को ही पर्याप्त समझते हैं। यदि आत्मा ऐच्छिक और अनैच्छिक व्यापारों के दोनों समूहों को एक ही साथ देख लिया जाता तो मन पर किसी प्रकार का भी अंधकार छाया न रहता तो इस बात का ज्ञान हो जाता कि जिन को मन के अनैच्छिक व्यापार कहा जाता है उन के करने में आत्मा का व्यवहार वैसा ही होता है जैसा कि प्रकृति के भिन्न भिन्न तत्वों का आत्मा भी अपनी सहज रासायन- प्रीतियों और गति-सम्बन्धी चेष्टाओं के साथ, रक्ताशय से रक्त को, फेफड़ों से पवन को, और मस्तिष्क से विद्युत की नाड़ीगत लहरों को खेंचती और परे हटाती है। आत्मा का यह द्विगुणरूप ही गौतम के प्रशस्तपाद-भाष्य के निम्नलिखित अवतरण का विषय है।

आत्माधिकारः।

आत्मत्वाभिसम्बंधादात्मा, तस्य सौक्ष्म्यादप्रत्यक्षत्वे सति करणैः शब्दाद्युपलब्ध्यनुमितैः श्रोत्रादिभिस्समाधिगमः क्रियते, वास्यादीनामिव करणानां कर्तृ प्रयोज्यत्वदर्शनात्, शब्दादिषु प्रसिद्ध्या च प्रसाधकोऽनुमीयते, न शरीरेन्द्रिय मनसां चैतन्य संज्ञत्वात्। न शरीरस्य चैतन्यं, घटादिवद्भूतकार्य्यत्वान्मृते चासम्भवात्, न इन्द्रियाणां करणत्वा दुपहतेषु विषया सानिध्ये चानुस्मृति दर्शनात्, नापि मनसः करणान्तरानपेक्षित्वे युगपदालोचनानुस्मृति प्रसंगात्स्वयं करणभावाच्च, परिशेष्यादात्म कार्य्यत्वाच्चेतनात्मा समधिगम्यते। शरीर समवायिनीभ्यां च हिताहित प्राप्तिपरिहारयोग्याभ्यां प्रवृत्ति निवृत्तिभ्यां रथकर्मणा सारथिवत्प्रयत्नवान्विग्रहस्याधिष्ठातानुमीयते। प्राणादिभिश्च कथं शरीर परिगृहीते वायौ विकृतकर्म्म दर्शनाद्भस्त्राध्मापयितेव, निमेषोन्मेषकर्म्मणा नियतेन दारुयंत्रप्रयोक्तेव, देहस्य वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणादि निमित्तत्वाद्गृहपतिरिव, अभिमत विषयग्राहक करण संम्बन्ध निमित्तेन मनः कर्म्मणा गहकोणेषु पजकप्रेरक इव दारकः, नयनविषयालोचना-

नन्तरं रसानुस्मृतिप्रक्रमया रसवविक्रिया दर्शनादने कगवाक्षान्तर्गत द्वेसकवदुभय-दर्शी कश्चिदेको विज्ञायते। बुद्धि सुखदुःखेच्छाद्वेष प्रयत्नैश्च गुणैगुणयनुमीयते। तेच न शरीरेन्द्रियगुणाः, कस्मादहंकारेणैक्यवाक्यताभावात्प्रदेश वृत्तित्वाद् याव-द्द्रव्यभायित्वाद्वाह्येन्द्रिया प्रत्यक्षत्वाच्च तथाहं शब्देन पृथिव्यादि शब्दव्य तिरेका-दितितस्य गुणा बुद्धि सुखदुःखेच्छाद्वेष प्रयत्न धर्मा धर्म्म संस्कार संख्यापरि-माण प्रथक्त सयोग विभागः। आत्मलिंगाधिकारे बुद्ध्यादयः प्रयत्नान्तः सिद्धाः, धर्म्माधर्म्मावत्मन्तरगुणानाम कारणत्व वचनात्, संस्कारः स्मृत्युत्पत्तौ कारणत्व वचनात्, व्यवस्थावचनात्मख्या, पृथक्त्वमतएव, तथाचात्मेति वचनात्परम मह-त्परिमाणम्, सन्निकर्षजत्वात्सुखादीना संयोगस्तद्विनाशकत्वाद्विभागा इति। प्रशस्तपादभाष्य आत्माधिकरणम्॥

ऊपर के वचन का स्थूल और प्रायः शाब्दिक अनुवाद यह हैः—

"दूसरा पदार्थ आत्मा कहलाता है क्योंकि इस में शरीर में स्वतंत्रता पूर्वक भ्रमण करने का विशेष गुण है। सूक्ष्म होने के कारण इसकी इन्द्रियों द्वारा उपलब्धि नहीं हो सकती। इस लिए इसके अस्तित्व का पता आंख, कान, इत्यादि साधनी भूत इन्द्रियों के सुस्वर व्यापार से लगता है, क्योंकि इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि इन्द्रियां केवल साधन हैं, जिन से काम लेने के लिए, शेष सब यंत्रों की तरह, किसी कर्त्ता या शक्ति की जरूरत है। इसके अतिरिक्त; जब शब्दों, वर्ण और स्वादों आदि का स्वरूप भली भांति ज्ञेय माना गया है, तो फिर ज्ञाता के अस्तित्व को स्वीकार करना भी स्वाभाविक है। यह ज्ञाता शरीर, इन्द्रियां, *या मनस† नहीं हो सकता क्योंकि इन में चेतना नहीं। शरीर में चेतना नहीं, क्योंकि यह प्रकृति के निर्जीव, जड़ और सर्वथा अचेतन तत्वों और पर-माणुओं के संयोग का परिणाम है, जिस प्रकार कि घड़ादि सामान्य पदार्थ चेत-नाशून्य है। इसके अतिरिक्त शरीर के चैतन्य शून्य होने का प्रमाण एक यह भी है कि यदि चेतना का कारण सचमुच शरीर ही होता तो मृत्यु के बाद यह कभी भी चेतना शून्य न हो जाता। वही इन्द्रियां चैतन्य का कारण हैं, क्योंकि एक तो वे साधन मात्र हैं, दूसरे यदि वे चेतना का कारण होतीं तो उनके नष्ट

* यहां चर्म की स्थूल इन्द्रियों से अभिप्राय नहीं प्रत्युत आत्मा की उन अदृश्य और सूक्ष्म इन्द्रियों या शक्तियों से अभिप्राय है जोकि इन स्थूल इन्द्रियों में रहती हैं।

† संस्कृत तत्वज्ञान में मनुष्य तीन सत्ताओं का बना माना गया है, अर्थात् १ भौतिकशरीर या स्थूलशरीर; २ सूक्ष्म शरीर या मनस्। मनस जीवन और संवेदन सूत्रों (sensation) (principles) का एकव्यूह है। पर स्थूल शरीर ३ अन्तरात्मा के बीच एक जोड़ने वाली सूक्ष्म, अतीन्द्रिय मध्यवर्ती शृंखला है, यह अन्तरात्मा ही वास्तविक मनुष्य और मध्यवर्ती भी सत्ता है॥

होजाने के साथ चेतना भी अवश्य ही नष्ट हो जाती, और उनके आस्तित्व से चैतन्य का आविष्कार होता, पर ये दोनों बातें ठीक नहीं। आंख के खराब होजाने पर रंगीन चीज़ों की उपलब्धि चाहे न होसके पर याद वे फिर भी आसकती हैं; इस लिए एक इन्द्रिय के नष्ट या बिगड़ जाने पर भी अनुस्मृति के रूप में चेतना बनी रहती है। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के स्वस्थ होते हुए भी, जब उपलब्धि के विषय उनके सम्मुख उपस्थित न किए जायें, चेतना का अभाव होसकता है। इस लए इन्द्रियां चेतन सत्ताएं नहीं। न ही मनस चेतन सत्ता है, क्योंकि यह भी अन्त को एक साधन है, और यदि यह आत्मा के हाथ में एक साधन न होता तो सूक्ष्म शरीर के लिए एक ही समय में और झटपट एक से अधिक संस्कारों का ज्ञान लाभ करना सम्भव होता, पर यह बात नहीं है। इस लिए अब स्थूल शरीर इन्द्रियों, और मनस् (सूक्ष्म शरीर) के अलावा एक चौथी सत्ता का आस्तित्व भी स्पष्टतः प्रतिष्टित होगया।"

"आत्मा के सम्बन्ध में प्रारम्भिक अनुमान इसके रथ के सारथि की तरह एक शासक सत्ता होने का है। जब सारथि अपने पट्ठों का बल लगाकर रथ को खेंचने वाले घोड़ों की बागों को इधर या उधर फेरता है तो रथ गति की आज्ञा में होकर उसी ओर को चलने लगता है। अब हमारे शरीर की चेष्टाएं भी जिन्हें **प्रवृत्ति**, अर्थात् जिसे सुखकर समझा जाता है उस में लगाना, और **निवृत्ति**, अर्थात् जिसे दुःखकर समझा जाता है उससे इच्छा पूर्वक हटना कहते हैं इसी प्रकार शरीर में मुड़ती हुई देखी जाती हैं। हमारा शरीर इस प्रकार एक रथ की तरह हैं, सारथि आत्मा बागों को पकड़े हुए शरीर की प्रवृत्ति और निवृत्ति को अपनी इच्छा के अनुसार मोड़ता है। आत्मा के विषय में हमारा दूसरा अनुमान धौंकनी में से लगातार वायु को निकालते हुए लुहार का हैं। फेफड़ों में जाने वाला वायु रासायिनिक रीति से दूषित होजाता है, और आत्मा इसको अपने फेफड़े रूपी धौंकनी मे लगातार बाहर निकालता रहता है। हमारा तीसरा अनुमान आंखों की पलकों के स्वाभाविक झपकने से है। जिस प्रकार मदारी तारों को खींचकर पुतलियों को नचाता है, उसी प्रकार आत्मा के प्रयत्न से पैदा होने वाला विशेष नाड़ियों का तनाव आंखों की पलकों की चेष्टाएं कराता रहता है। आत्मा के विषय में हमारा चौथा अनुमान एक शिल्पी (मकान बनाने वाले) का है। गृहपति शिल्पी शीघ्र ही अपना गृह मन्दिर बना लेता है, टूटी हुई

जोकि क्रिया करती, अनुभव करती, उपभोग करती, और चेतन है। मनस् के इस व्यूह से एक परिणाम यह निकलता है कि आत्मा के लिए एक ही समय में दो संस्कारों का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है॥

सीढ़ियों या गिरी हुई छत्त की मुरम्मत कर देता है और अपने मैले कमरों में सफेदी करलेता है। इसी प्रकार आत्मा रूपी शिल्पी भी अविकसित शरीर की वृद्धि करता, इसके घावों और इसके टूटे हुए या क्षति ग्रस्त अंगो की मरम्मत करता है। आत्मा के विषय में हमारा पांचवां अनुमान एक बालक का है जो कि छड़ी के साथ एक मकड़ी को कमरे के एक कोने से दूसरे कोने में दौड़ता फिरता है। इसी प्रकार आत्मा सूक्ष्म शरीर (मन) को, बालक के से कौतुक के साथ, शरीर के एक कोने (इन्द्रिय) से दूसरे कोने में फिराता है हमारा छठा अनुमान एक दर्शक का है जो कि एक गोल कमरे के बीच में खड़ा है। कमरे में चारों ओर खिडकियां हैं इस लिए वह अपने उच्च स्थान से, प्रत्येक दिशा में होने वाली घटनाओं को, यथार्थ खिड़कियों में से शान्ति पूर्वक देख सकता है। नेत्रों के सामने एक फल रक्खा जाता है। वे उसका रंग ही देख पाते हैं, लेकिन इसका स्वाद झट स्मरण हो आता है और माधुर्य की प्रचुरता से जिह्वा से थूक निकलने लगता है। इनके अतिरिक्त हम सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और बुद्धि आदि गुणों से एक वस्तु के आस्तित्व का अनुमान करते हैं। ये गुण शरीर या इन्द्रियों के नहीं। क्योंकि अहंकार अपना ऐक्य भाव इन गुणों के साथ बताता है, शरीर या इन्द्रियों के साथ नहीं। "मैं अनुभव करता हूं, मैं इच्छा करता हूँ" चैतन्य की सच्ची कैफियतें हैं, परन्तु यह नहीं कि शरीर या इन्द्रियां अनुभव करती, या इच्छा करती, या चेतन हैं।"

"यह गुण उस द्रव्य को जतलाते हैं जिस में कि यह रहते हैं यह किसी किसी या प्रत्येक वस्तु में नहीं पाये जाते, और बाहर की इंद्रियां इन्हें जान नहीं सकतीं इसलिए ये एक तीसरी चीज अर्थात् आत्मा के गुण हैं। आत्मा के गुण ये हैं:— बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म्माधर्म, संस्कार, संख्या; परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग। पहले छः गुणों का ऊपर ज़िक्र हो चुका है। धर्म्माधर्म आत्मा के गुण हैं क्योंकि वह एक जिम्मेदार कारक है। आत्मा के संस्कार ग्रहण के योग्य भी है क्योंकि केवल यही संस्कार ही स्मृति का कारण हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का अहंकार दूसरे व्यक्तियों से भिन्न उपभोगों का परिचय रखता है, और दूसरे व्यक्ति के अनुभवों और अवस्थाओं को अपनी चेतना के सामने उपस्थित करने में असमर्थ है, इस लिए यह स्पष्ट है कि प्रत्येक आत्मा की एक पृथक सत्ता है और इस में संख्या का गुण है शरीर में स्वतंत्रता पूर्वक विचारने से उस में परिमाण का होना सिद्ध है। सुख और दुःख सब सूक्ष्मशरीर (मन) में उत्पन्न होते हैं। आत्मा को उनका ज्ञान केवल मनके साथ उस के सम्पर्क के कारण होता है और इसी मन के द्वारा वह अनुभव

के विषय को जानता है। इस से इस में संयोग और विभा के गुणों का होना पाया गया"

उपर्युक्त वचन की व्याख्या सुनिये :—

पहले इस में आत्मा को एक सूक्ष्म सत्ता दिखलाया गया है जोकि इन्द्रिय ग्राह्य नहीं। इस मत के विरुद्ध एक पक्षपात पाया जाता है। आगे चलने के पूर्व उसे साफ कर देना आवश्यक है। पक्षपात यह है कि जो कुछ **अदृश्य, अतीन्द्रिय,** या सूक्ष्म हो उसे न मानना। यह पक्षपात या तो बहुत ज़ियादा उथले अनुभव के कारण से, या सर्वथा भौतिक या प्राकृतिक व्यापारों और केवल परीक्षा मूलक या निरुपपत्तिक विद्याओं के साथ एकमात्र गाढ़ नुराग रखने के कारण पैदा होता है, क्योंकि इन में अवलोकन की शक्तियों का ही निरन्तर प्रयोजन रहता है, चिन्ता, कल्पना या प्रत्याहार का पहले तो काम ही नहीं पड़ता, और फिर यदि कभी पड़ता भी है तो बहुत कम। इन्ही विद्याओं के दृश्य-चमत्कारों के साथ गहरा परिचय प्राप्त हो जाने पर यह बात प्रमाणित हो जायगी कि इन दृश्य-चमत्कारों के प्रकृत कारण फलतः वास्तविक सताएँ, सदा गुप्त, अदृश्य, और अगोचर रहती हैं। उदाहरणार्थ **गुरुत्वाकर्षण** को ही लीजिए। ब्रह्माण्ड में प्रकृति का प्रत्येक कण प्रकृति के दूसरे कण को आकृष्ट करता है। उनके आकर्षण की शक्ति उनके पिण्डों के घात के प्रमाण से और उनकी दूरियों के वर्ग के विपर्यस्त प्रमाण से होती है शक्ति का नाम वैज्ञानिक लोग गुरुत्वाकर्षण रखते हैं। इस अकेले नियम के कार्य या इस अकेली शक्ति की क्रिया से पैदा होने वाले **प्रत्यक्ष कार्यों** की अनन्तता को देखिए। छोटे से छोटे अणु से लेकर बड़े से बड़े सूर्य तक प्रत्येक चीज़ इस नियम के अधीन है। गुरुत्वाकर्षण जगत्सम्बंधी गतियों के सभी दृश्य-चमत्कारों का—ग्रहों के अपने पथों पर घूमने, उपग्रहों के ग्रहों के गिर्द चक्कर काटने, ऋतुओं के परिवर्तन, धूम केतुओं के उड़ने, उल्काओं के गिरने, ज्वार भाटे, और ग्रहणों का जन्मदाता है? इसके नानारूप कार्यों के प्रत्यक्ष होते हुए भी क्या खुद गुरुत्वाकर्षण प्रत्यक्ष हैं, या क्या वह एक **सूक्ष्म, अदृश्य,** परन्तु **वास्तविक** शक्ति है जोकि प्रकृति में **विद्यमान है** और अपने **दृश्य प्रत्यक्ष** अद्भुत कार्यों से अपने आप को प्रकट करती है। या एक और **बिजली** उदाहरण लीजिए। **सर्व-व्यापक वस्तु** क्या है? प्रकृति का कोई भी कण, ऐसा नहीं जिस में यह न हो। रगड़ द्वारा उत्तेजनीय, या प्रवर्तनीय होते हुए यह

प्रत्येक भौतिक शरीर के भीतर गुप्त और अदृश्य रूप से रहती है। तार-समाचार भेजते समय जब विद्युद्धारा तारों में से गुज़रती है, तो यह अकस्मात ही सारा मार्ग तय कर लेती है, तारों पर इस का कोई स्थल और दृश्य कार्य शेष नहीं रह जाता: परन्तु वही अदृश्य, गुप्त तत्व पहुंचने-के-स्थान में घण्टी के बजने, चुम्बक की तेज़ खटखटाहट, डायल के हिलने, या स्याही या पेंसिल के हचकोले से अपने आप को प्रकट करता है। चुम्बक-शक्ति का व्यापार इस से भी अधिक दुर्बोध है। घोड़े की नाल की शकल का लोहे का एक भारी पिण्ड, जिस पर लाख (Shellac) से मढ़ी हुई तांबे की तार की एक लम्बी कुण्डली चढ़ी हुई है, पड़ा है; उन के समीप ही लोहे की कीलों, सूइयों और हथौड़े आदि का एक बड़ा ढेर लगा है। अभी चुम्बकीय शक्ति का जादू काम नहीं करने लगा। झट एक प्रबल बैटरी से बिजली की एक धारा कुण्डली में भेजी जाती है और निश्चेष्ट, निर्जीव, नाल एक अद्भुत शक्ति पाकर जी उठती है। यह बड़े बल से कीलों, हथौड़ों, सूइयों, और अपने आस पास की प्रत्येक लोहे की वस्तु को आकृष्ट करने लगती है। यद्यपि यह दिखाई नहीं देता, परन्तु अब यह चुम्बकीय शक्ति का क्रीडा-स्थल है। यह शक्ति अपने कार्यों और अभिव्यक्तियों में इतनी प्रबल होने पर भी, स्वयं सूक्ष्म और अदृश्य है।

इसलिए यह स्पष्ट है कि वस्तुओं के प्रकृत कारण गुप्त, अदृश्य, और अतीन्द्रिय हैं। उन के कार्य अर्थात् उन के उत्पन्न किए हुए दृश्य-चमत्कार ही दृश्य और इन्द्रियगोचर हैं। ऐसी अवस्थाओं में तर्क का प्रधान हेत्वाभास यह है कि क्रिया के दृश्य और आसन्न साधनों को कारण समझ लिया जाता है; जब कि प्रकृत कारण गुप्त; परन्तु वास्तविक और सनातन हैं। यदि जीवन युक्त ऐन्द्रियिक जीव-जन्तुओं द्वारा, और सब से बढ़कर मनुष्य द्वारा प्रकटित प्राणभूत दृश्य-चमत्कारों की नींव में कोई कारण है, तो उस कारण का गुप्त, अदृश्य, और अतीन्द्रिय, और फलतः सनातन होना परमावश्यक है। इसलिए आत्मा का सूक्ष्म, अदृश्य स्वरूप उसके अस्तित्व के विरुद्ध आपत्ति होने के स्थान, वास्तव में, उस के अस्तित्व का समर्थक प्रमाण और आवश्यक अनुमान है।

इसलिए विषयाश्रित रीति से देखने पर आत्मा केवल अनुमान का ही विषय हो सकता है। अब प्रत्येक अनुमान में पहले दो बातें मान ली जाती हैं, एक तो वह जिस के अस्तित्व का अनुमान करना है, और दूसरे निश्चित स्वीकृत तत्व जिन से उस अस्तित्व का अनुमान होता है। अनुमान का आधार कुछ सादृश्य या अनुरूपता होती है। अनुमान की बड़ी समस्या वस्तुतः इस बात का निश्चय करने में है कि ऐसे अनुमान के लिए कौनसा सादृश्य पर्याप्त और

कौनसा अपर्याप्त समझा जाए। ज्ञात स्वीकृत तत्व जिन से अज्ञात वस्तु का अनुमान होता है संस्कृत तर्क में लिंग, और जिस वस्तु का अनुमान किया जाता है वह अनुमेय कहलाती है। अनुमान के इस प्रश्न के विषय में तार्किक काश्यप कहता है:—

अनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।

तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥

अर्थात् "अनुमान के लिए वही लिङ्ग समर्थनीय है जिस का किसी समय या किसी स्थान में अनुमेय का सहवर्ती होना मालूम हो, दूसरे यह भी ज्ञात हो कि वह वहां विद्यमान है जहां कि अनुमेय वस्तु के सदृश वस्तु वर्तमान है, और तीसरे वह वहां नहीं जहां कि अनुमेय के असदृश वस्तु है।" अच्छा अब हम साकार उदाहरण लेते हैं। बैरामीटर की नली में पारे के गिरने से हम वायु के दबाव के कम हो जाने का अनुमान करते हैं। अब देखना चाहिए कि ऐसा अनुमान समर्थनीय हो सकता है या नहीं। पारे का नीचे उतर आना ज्ञात है, पर दबाव की कमी ज्ञात नहीं। परन्तु हमें एक विशेष प्रयोग (अर्थात् एक विशेष स्थान और समय पर किए हुए प्रयोग) से मालूम है कि दबाव के घटने से बैरामीटर का पारा नीचे गिर जाता है। यह पहली शर्त पूरी हुई। दूसरे, दबाव के घटने की वैसी ही अवस्थाओं में, चाहे उन का कारण कुछ ही क्यों न हो, बैरामीटर सदा नीचे उतर आता है, परन्तु तीसरी शर्त पूरी नहीं हुई। यह बात सत्य नहीं कि जहां बैरामीटर का पारा नहीं गिरता वहां दबाव में कोई कमी नहीं होती, क्योंकि दबाव के घट जाने पर भी हो सकता है कि बैरामीटर न गिरे। ताप के बढ़ जाने से पारा फैल कर हलका हो गया। यदि वही दबाव बना रहता तो पारा बहुत ऊपर चढ़ जाता, परन्तु दबाव के घट जाने ने पारे के बढ़ने को रोक दिया और देखने में पारा वहीं ही रहा जहां कि वह पहले था। इस लिए काश्यप की तीन शर्तें सनिश्चय सिद्ध करती हैं कि बैरामीटर का उतरना दबाव के घटने का लिङ्ग नहीं। इसी प्रकार की वितर्क से यह प्रमाणित हो जायगा कि पारे के उपरिस्थित स्तम्भ के भार का घट जाना दबाव के घट जाने का लिंग (अनुमान) है।

सामान्यतः यह दिखला देने के पश्चात् कि अनुमान के आधार के लिए कौन कौन से लिङ्ग योग्य हैं अब यह देखना बाकी है कि आत्मा के अस्तित्व के अनुमान के लिए कौन से दृश्य-चमत्कार आधार का काम दे सकते हैं। इन

दृश्य-चमत्कारों का आत्मा के साथ कोई नियत सम्बंध होना आवश्यक है; साथ ही यह भी आवश्यक है कि कुछ अवस्थाओं में जहां आत्मा के आवश्यक गुण पाये जाते हों वहां इन का उपस्थित होना भी ज्ञात हो; और जहां ये न मिलें वहां कोई आत्मा भी न हो। ये दृश्य-चमत्कार दो प्रकार के हैं; एक तो शारीरिक इन्द्रियों का व्यापार और चेष्टा, और दूसरे, वे संवेदनाएं जिन का मनुष्य को प्रत्यक्ष ज्ञान है। इस लिए इन दो प्रकार के दृश्य-चमत्कारों से ही आत्मा के अस्तित्व का अनुमान विषयाश्रित रीति से हो सकता है। चेतन आत्मा का एक विशेष गुण है, इस लिए केवल यही मालूम नहीं कि शारीरिक इन्द्रियों की कुछ चेष्टाएं चेतन आत्मा के प्रयत्न से उत्पन्न होती हैं; प्रत्युत कई ऐसे भी व्यापार ज्ञात हैं जो प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होते परन्तु जहां कहीं भी चेतन है वहां वे अवश्य देखे जाते हैं; और सभी जीवन युक्त शरीर मृत्यु के पश्चात्, या जीवन शून्य वस्तुओं की रचनाएं उन व्यापारों से शून्य होती हैं। यही अवस्था संवेदनाओं की है।

इन दृश्य-चमत्कारों का सविस्तर वर्णन करने के पहले उस वाद की पड़ताल कर लेना उपयोगी होगा जो कि आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व के विरुद्ध उपस्थित किया जाता है, और जो प्रतिभाहीन जिज्ञासुओं के लिए इस विषय को ठीक तौर पर समझने में एक बड़ा बाधक हो रहा है। वह वाद स्वाभाविक-सृष्टि वाद (mechanical) है। हम दिखलायेंगे कि यह वाद चेतना का कहां तक समाधान कर सकता है।

आत्मा को छोड़ कर, मनुष्य शरीर, इन्द्रिय, और मन इन तीन पदार्थों का बना है। शरीर जिस का लक्षण महामुनी गौतम अपने न्याय दर्शन में "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् (१।१।१।)" करते हैं, उस में स्थापित स्थूल इन्द्रियों-सहित देह का ठोस ढांचा है। यह सारी चेष्टाओं की भित्ति, सारी इन्द्रियों और उन की संवेदनाओं का स्थान है। इन्द्रियां पांच सूक्ष्म सत्ताएं हैं। ये पांच स्थूल ज्ञानेन्द्रियों में यथाक्रम स्थापित, पर उन से विभिन्न हैं। इन में से प्रत्येक के द्वारा आत्मा पांच सम्वेदनाओं-गंध, रस, रूप, स्पर्श, और शब्द—में से प्रत्येक की नियत और विभिन्न चेतना लाभ करता है। आत्मा की उपलब्धि के लिए इन्द्रियां संवेदना के अदृश्य, आन्तिरिक माध्यम हैं। उन के बाहर की स्थूल इन्द्रियों से स्वतंत्र होने पर हंस नहीं देना चाहिए। क्योंकि अनेक वार देखा गया है कि कान का सुनने का परदा (fympanic membrane), मोगरी (hammer), और अहिरन (anvil) नष्ट हो गये हैं, पर सुनने की शक्ति वैसी की वैसी बनी हुई है। और यही अवस्था दूसरी इन्द्रियों की है। वास्तव में इन्द्रियों का स्थूल

दृश्य इन्द्रियों से स्वतंत्र होना किसी प्रकार हमारे अनुभव का निशेधक नहीं, प्रत्युत मानव-अनुभव इस का ऐसी अच्छी तरह से समर्थन करता है कि सच्चे तर्क को इस में कभी भी सन्देह नहीं होता। क्योंकि "शारीरिक विश्राम के समय में जब कि शरीर के अंग प्रत्यंग नवीन शक्ति और नया बल प्रत्युत्पन्न और संग्रह कर रहे होते हैं, और जब कि बाह्य संस्कारों के लिए इन्द्रियां बन्द होती हैं, मन, सब बाधक और क्षोभजनक प्रभावों से रहित होकर, भिन्न २ स्थानों में कल्पनात्मक पर्यटन करता है और चिन्ता से भिन्न २ वस्तुओं को उत्पन्न कर लेता है। वह कल्पना करता है, वह देखता है, और वह सुनता है। कभी कभी अपनी यात्रा में वह किसी मधुर गान से, या नाना प्रकार के मनोहर दृश्यों पर, जिनका कि वह आनन्द लूटता हुआ प्रतीत होता है, मुग्ध होकर ठहर जाता है। कई वार यह कल्पना करता है कि मैं चल रहा हूं, अनुभव करता हूं, चखता हूं, या असह्य पीड़ा से व्यथित हो रहा हूं। यह भी प्रतीत होता है कि वह अनेक ऐसी बातों पर आग्रह कर रहा है जिन पर आग्रह करने की उस की पहले कोई इच्छा या कामना न थी। इन सारे देशाटनों में शब्द के तरंग, प्रकाश के परावर्तन, स्पर्श की ग्रहण शीलता और चखने के आनन्द का उपभोग करने की कल्पना कर ली जाती है। यह सिद्ध करता है कि **संवेदना का एक आन्तरिक माध्यम** है जिस के द्वारा मन अपनी वृत्ति का उपभोग करता है, मानो बाह्य जगत् के साथ इस का सम्बन्ध हो। इस से यह भी सिद्ध होता है कि संवेदना की इन नाड़ियों के ऊपर एक माध्यम है जो कि **आन्तरिक और बाह्य दोनों विद्यमान कारणों से स्वतंत्र है।**"* संवेदना का यह माध्यम इन्द्रिय हैं। और अन्ततः मन आत्मा से भिन्न एक तीसरी सत्ता है। गौतम अपने न्यायदर्शन में कहते हैं "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्" १।१६॥ अर्थात् मन का अस्तित्व इस से सिद्ध है कि मनुष्य एक समय में एक ही बात पर ध्यान दे सकता है। कहते हैं कि एक वार एक यूनानी तत्त्ववेत्ता गणित का कोई प्रश्न हल करने में लगा हुआ था; उस के पास से एक सेना गुज़र गई पर उसे इस की खबर भी न हुई। अन्त को जब एक सिपाही ने उस दार्शनिक के पृथ्वी पर बनाए हुए चक्र को मिटा दिया तब कहीं उस का ध्यान भंग हुआ। तत्पश्चात् क्या हुआ यह इतिहास से पूछिए। क्या उस सेना की गति सर्वथा निःशब्द थी? क्या जिस समय वह तत्त्वज्ञानी प्रश्न हल कर रहा

* Principles of Nature, by Andrew Jackson Davis.

था उस समय कोई शब्द तरंग नहीं पैदा होते थे ? क्या तरंग उस के कान के गढ़े में नहीं घुसे, और क्या उन्होंने सुनने के परदे को, कान के भीतरी टेढ़े मेढ़े स्थान में बड़ी सूक्ष्म रीति से रक्खी हुई हड्डी (stapes) और कर्ण-पूर्ण रस को, वस्तुतः नाड़ियों पर संवेदना के अदृश्य माध्यम, अर्थात् इन्द्रिय को कम्पायमान नहीं किया ? यह सब कुछ हुआ अवश्य, पर तत्त्वज्ञानी का इस ओर ध्यान न था। तत्त्वज्ञानी में कुछ वस्तु ऐसी थी जिसका सोचते समय-प्रश्न को हल करते समय-भीतरी कान के साथ संसर्ग न था; कुछ वस्तु जिसका जब एक इन्द्रिय के साथ संसर्ग होता है तो उसी समय दूसरी इन्द्रिय से संसर्ग टूट जाता है। इन्द्रिय के साथ, अतः स्थूल इन्द्रिय-गोलक के साथ इसके संसर्ग को ही हम ध्यान या मनोयोग कहते हैं। इस से इसका वियोग सम्बन्ध के सूत्रों को काट देता है, और इसका जो परिणाम होता है उसे हम अन्यमनस्कता कहते हैं। न ही यह मनस् चेतन सत्ता है; क्योंकि, कौन नहीं जानता कि वे सारे प्रत्यय (Ideas) जो हमारे अनुभव ने हमारे लिए प्राप्त किए हैं अधिक काल तक गुप्त लिपिबद्ध अवस्था में मस्तिष्क में, या अधिक शुद्ध रीति से कहें तो, मनस् में पड़े रहते हैं, परन्तु उन में से कोई एक केवल उसी समय स्मरण आता है जब कि उसे पुनः बुलाया जाता है।

हमने देख लिया कि शरीर, इन्द्रिय, और मनस् क्या पदार्थ हैं। अब हम परीक्षा करेंगे कि क्या इनमें से कोई एक चेतन है। क्योंकि, यदि, आत्मा को छोड़ कर, मनुष्य शरीर, इन्द्रिय, और मनस् इन तीन पदार्थों का बना है, और यदि इन में से प्रत्येक चेतना शून्य या चेतना का विकास करने के अयोग्य प्रमाणित होजाय, तो फिर चौथी वस्तु-आत्मा-के चेतन सत्ता होने में कोई सन्देह न रह जायगा। पहले, शरीर चेतन सत्ता नहीं क्योंकि यह प्रकृति के जीवनशून्य, निश्चेष्ट और सर्वथा अचेतन तत्त्वों और अणुओं के मिश्रण का फल है, और वे सारे पिण्ड जो ऐसे कणों के मिश्रण से बने हैं स्वयं भी जीवनशून्य और अचेतन हैं। जड़ रासायनिक मिश्रणों का सारा जगत्, जिस में घड़ियां, स्टीम एञ्जिन इत्यादि सभी आजाते हैं, इस नियम का दृष्टांत है। ऐन्द्रियिक मिश्रण भी इस नियम से बाहर नहीं। जब तक ऐन्द्रियिक पदार्थों का एक जीवन युक्त बीज के साथ मेल है, तब तक उनकी अभिव्यक्तियां बहुत कुछ परिवर्तित और विकृत रहती हैं, पर जीवन दाता सूत्र के चले जाने पर, ऐन्द्रियिक रचना भी जीवन-शक्ति और चेतना के चिन्ह दिखलाने में असमर्थ हो जाती है। इस को कुछ और स्पष्ट करते हैं।

मान लीजिये कि शरीर चेतन है। अब हमें पता लगाना चाहिए कि यह चेतना उस में स्वाभाविक है या नैमित्तिक। यदि स्वाभाविक है तो शरीर को मृत्यु के उपरान्त भी चेतन होना चाहिए, पर यह बात नहीं। यदि यह नैमित्तिक है, तो इसका अर्थ यह है कि चेतना के लिए हमें शरीर के अतिरिक्त किसी और वस्तु की तलाश करनी चाहिए। न ही इन्द्रियां चेतन सत्ताएं हैं, क्योंकि, वे तो केवल साधन हैं जिन से काम लेने के लिए एक कारक की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, यह बात नहीं कि जहां इन्द्रियां विद्यमान हों वहां चेतना भी अवश्य होती है, जैसा कि अन्यमनस्कता की अवस्था में होता है. न ही उनके नष्ट होजाने से चेतना नष्ट हो जाती है, क्योंकि, आंख के खराब होजाने, बल्कि गोलक से सर्वथा निकाल दिये जाने पर भी चेतना में रंगीन वस्तुओं की स्मृति हो जाती है। नही मनस् चेतन सत्ता है, क्योंकि यदि वह चेतन होता तो इसे प्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक संस्कार का ज्ञान होता, और हमें एक ही समय में दो संस्कारों को पहचानने की असमता आदि रुकावटें न देखनी पड़तीं।

मनुष्य की अपनी चेतना पर थोड़ी देर के लिए गम्भीरता पूर्वक विचार करने से प्रत्येक व्यक्ति को आत्मा के शरीर, इसकी इन्द्रियों, व्यापारों, विकारों, प्रत्युत संवेदनाओं से भी पृथक्त्व का विश्वास हो जायगा। उपर्युक्त सारे तर्क का मूलाधार दो महान् व्यापक नियम हैं। पहला नियम जो बड़ा प्रसिद्ध है। वह यह है कि अभाव से भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। इसका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है:–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः॥ *

अर्थात् "अभाव से भाव, और भाव से अभाव कभी नहीं हो सकता।" बुद्धिमानों ने इन दोनों प्रतिज्ञाओं की सचाई की पूरी २ जांच की है। स्वार्थी, अल्पविद्यायुक्त, इन्द्रियाराम, पापासक्त पुरुष इसको सुगमता से नहीं जान सकते।† सारे निर्दोष तत्वज्ञान का यही प्रधान नियम है। सृष्टि सर्वथा असम्भव है। प्रकृति के नियम केवल रचना को प्रकट करते हैं। आओ, एक घड़ी के लिये यह मानलें कि सृष्टि का होना सम्भव है, और अभाव से भाव की उत्पत्ति हो सकती है। यह कल्पना ही इस बात को मान लेती है कि कोई अभाव है जो भाव को उत्पन्न कर सकता है। इस लिए दो प्रकार के अभाव सिद्ध हुए, एक तो साधारण अभाव जिस से कोई वस्तु पैदा नहीं होती, और दूसरा यह विशेष अभाव जिस

* भगवद्गीता, २, १६।

† स्वामी दयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ २२२, तीसरा संस्करण।

से भाव की उत्पत्ति होती है। अब जिस के अनेक प्रकार हैं वह अभाव नहीं, भाव है। इस लिए वह अभाव जो दो प्रकार का है भाव के सिवा और कोई पदार्थ नहीं। अथवा, भाव से ही भाव उत्पन्न हो सकता है। इस के उलट की कल्पना सर्वथा असम्भव है। दूसरा नियम वैशेषिक दर्शन में इस प्रकार बताया गया है:—

कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्टः। *

अर्थात् कार्य में केवल वही गुण पाये जाते हैं जो उस के कारण में पहले से विद्यमान थे। कोई नया गुण पैदा नहीं हो सकता। यदि इन दोनों नियमों को भली भांति समझ कर सदा स्मरण रखा जाय तो मनुष्य तर्काभास से आक्रमणों से सर्वथा सुरक्षित रहेगा। परन्तु हमारे आधुनिक काल के जड़वादी, जो ब्रह्माण्ड के दृश्य-चमत्कारों की कैफियत के लिए स्वाभाविक सृष्टिवाद को ही पर्याप्त समझते हैं, इन दोनों नियमों को भुला देने तक ही सन्तुष्ट नहीं, प्रत्युत वे मानव-मन की इन सहज कल्पनाओं का खुल्लम खुल्ला और सविस्तर निषेध करते हैं। चार्लस ब्रेडला कहता है कि—"धर्म्मो वाले यह समझते हैं कि वे पहेलियां घड़ कर इस कठिनता को टाल रहे हैं या हमारी ओर भेज रहे हैं। वे शरीर को तोड़ फोड़ कर, और जिन को वे मूल पदार्थ कहते हैं उन की एक सूची बना कर पूछते हैं—'क्या आकसीजन में विचार करने की शक्ति है? क्या कार्बन सोच सकता है? क्या नाइट्रोजन सोच सकता है? और जब इस प्रकार उन की सारी सूची समाप्त हो जाती है तो फिर वे कहते हैं कि क्योंकि इन में से कोई एक भी अपने आप नहीं सोच सकता, इस लिए विचार प्रकृति का परिणाम नहीं प्रत्युत आत्मा का गुण है। इस सारे वितर्क का अधिक से अधिक केवल यही सारांश है कि 'हम जानते हैं कि शरीर क्या वस्तु है, परन्तु हमें आत्मा के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं, क्योंकि हम यह नहीं समझ सकते कि शरीर, जिसे कि हम जानते हैं, किस प्रकार सोच सकता है, इस लिए हम कहते हैं कि आत्मा ही, जिस को कि हम नहीं जानते, सोचने का काम करता है।' आत्मा के पक्ष में धर्म्म वालों के इस वितर्क में एक और बड़ा दोष है, क्योंकि यह, अनुभव के विपरीत, इस बात को मान लेता है कि किसी समवाय में कोई ऐसा गुण या परिणाम नहीं पाया जा सकता, जो कि उस समवाय को बनाने वाले किसी एक या सभी परमाणुओं, अङ्गों, रीतियों, या तत्त्वों में भी नहीं मिलता। पर यह बड़ी ही वाहियात बात है। चीनी का स्वाद मीठा होता है, परन्तु न ही कार्बन, न ही

* वैशेषिक सूत्र २,१,२४।

आकसीजन, और न ही हाइड्रोजन अलग अलग चखने पर मीठे प्रतीत होते हैं; फिर भी आप कार्बन, आकसीजन, और हाइड्रोजन के एक नियत समवाय का नाम चीनी ही रखते हैं। मेरा पक्ष यह है कि मानवीय, प्राणभूत, और मानसिक दृश्य-चमत्कारों के सम्बंध में 'आत्मा' शब्द की वही स्थिति है जो कि भौतिक दृश्य-चमत्कारों के सम्बंध में 'भूत', 'प्रेत', 'चुड़ेल', 'जिन्न', 'परी', 'देवता' आदि शब्दों की हुआ करती थी।"*

क्या यह निर्दोष तर्क है? क्या चार्लस ब्रेडला यह समझता है कि यदि आत्मा सम्बंधी यह प्रतिज्ञा चेतना के दृश्य-चमत्कारों की कैफियत नहीं दे सकती तो क्या उस के भौतिक परमाणु दे सकते हैं? उस का वह यह उत्तर देता है:—

विचार—क्षमता प्राणि-रचना की क्षमता के रूप में ही मिलती है, इस के सिवा वह कभी नहीं दिखाई देती, और यह क्षमता उच्च कोटि के प्राणी में उच्च और नीच कोटि के प्राणी में नीच होती है।......आत्मा के कट्टर पक्षपाती दावा करते हैं कि जिसे वह आत्मा कहते हैं वह मनुष्य का नाश हो जाने पर भी जीती रहेगी, परन्तु वे इस बात की कैफियत नहीं देते कि क्या वह आत्मा मनुष्य के आविर्भाव के पूर्व भी विद्यमान् थी।"† यहां चार्लस ब्रेडला ईसाई धर्म्म के विषय में कह रहा है, क्योंकि वैदिक तत्त्वज्ञान तो अनादित्व का प्रतिपादन करता है, जिस से जीवात्माओं का पहले से होना माना जाता है। आगे चलकर वह कहता है कि "आस्तिक लोग दावा करते हैं कि जिनको वे मूल पदार्थ कहते हैं उन में से पृथक् २ तौर पर कोई भी पदार्थ विचार नहीं कर सकता, इसलिए मनुष्य आत्मा के बिना सोच नहीं सकता, क्योंके मनुष्य सोचता है इसलिए उस में आत्मा है। यह युक्ति, यदि कुछ दृढ़ हो भी तो, बहुत दूर तक पहुंचती है; मछली सोचती है, झींगा सोचता है, चुहिया सोचती है, कुत्ता सोचता है, और घोड़ा सोचता है इससे इन सब में अविनाशी आत्माएं होनी चाहिएं।' ‡ निःसन्देह इनमें आत्माएं हैं; परन्तु डरपोक ईसाई इसे स्वीकार करने से डरते हैं, इसीलिए चार्लस ब्रेडला का धार्मिक आक्षेप कट्टर ईसाईयों के लिए हैं। उसकी युक्तियां वैदिक सिद्धान्तों का खण्डन करने के स्थान में उन का मण्डन करती हैं। परन्तु अब हम ब्रेडला के पहले वचन को लेते हैं। यह बात प्रत्यक्ष है कि हम इस बात की कोई कैफियत नहीं दे सकते कि शरीर कैसे सोचता है, और जब तक **अभाव से भाव**

* Charles Bradlaugh "Has Man a Soul!" p 4—5.

† Charles Bradlaugh "Has Man a Soul?" p. 5.

‡ Ibid p. 5.

की उत्पत्ति नहीं हो सकती का सिद्धान्त सत्य और इस का विपर्यय सर्वथा कल्पनातीत है तब तक कोई भी मनुष्य इस बात को न समझ सकेगा कि शरीर कैसे सोचता है। तो फिर इसका अनिवार्य परिणाम क्या निकला? स्पष्टतया परिणाम यही है कि यदि बुद्धि को चेतना के अस्तित्व की कैफ़ियत देनी हो तो इसका सम्बन्ध शरीर या शरीर को बनाने वाले तत्वों के साथ न दिखाकर, इसका कारण किसी और पदार्थ में ढूंढना चाहिए। इस पदार्थ का नाम, जिस के विषय में इससे बढ़कर और कुछ नहीं कहा गया कि वह 'शरीर नहीं, और वह सोचने का कारण है,' सुगमता से जीवात्मा या अंग्रेज़ी भाषा में 'सोल' (soul) रक्खा जा सकता है। तब इतना कह देने में क्या हानि है कि "सोचने वाला जीवात्मा (जिसके विषय में हम जो कुछ पहले कह आए हैं उससे अधिक और कुछ नहीं कहते) ही है।" परन्तु फिर भी ब्रेडला इस में दोष देखता है। आगे चलकर वह पूर्वोल्लिखित दोनों नियमों का ही निषेध करता है, और कहता है कि यह प्रतिज्ञा कि किसी समवाय में कोई ऐसा गुण या कार्य नहीं हो सकता जो कि उसको बनाने वाले तत्त्वों में विद्यमान न हो, "बड़ी ही वाहियात" है। वह चीनी का दृष्टान्त देकर कहता है कि चीनी के मूल पदार्थों के न मीठा होने पर भी वह मीठी होती है। क्या यह उथला तर्क नहीं? क्या किसी ने कभी स्वप्न में चीनी का स्वाद नहीं चखा? पर वहां न कोई चीनी है, और न कार्बन, हाइड्रोजन, और आक्सीजन का कोई नियत समवाय। मीठा स्वाद चीनी में नहीं, क्योंकि यदि यह होता तो कोई भी व्यक्ति मिठास को चखने का स्वप्न न देख सकता, इसलिए इसके चीनी को बनाने वाले कार्बन, हाइड्रोजन, और आक्सीजन नामक मूल पदार्थों में होने का प्रयोजन नहीं। मिठास का कारण एक विशेष नाड़ी का एक नियत आन्दोलन है, और कार्बन आक्सीजन, और हाइड्रोजन का निर्दिष्ट समवाय, जिसे चीनी कहा जाता है, जीभ की थूक में द्रवीकरण (dissolution) की रसायन-सम्बन्धी-वैद्युत शक्ति (chemico-electrical energy) के द्वारा उस शक्ति की एक नियत राशि को केवल प्रकट करने का काम देता है जोकि विशेष नाड़ी को आन्दोलित करती है, इसी कारण से मिठास का स्वाद आता है। स्वप्न में यह आन्दोलन बाह्य साधनों द्वारा नहीं प्रत्युत भीतरी साधनों द्वारा होता है। इसलिए चीनी का दृष्टान्त हमारा खण्डन नहीं, प्रत्युत हमारा मण्डन ही करता है।

परन्तु ऐसे भी जड़वादी हैं जो चार्लस ब्रेडला से अधिक चतुर हैं। वे दर्शन शास्त्र के उपर्युक्त दो महान् नियमों से इनकार करने के स्थान उनको अपना आधार बनाते हैं, और स्वाभाविक-सृष्टिवाद को उसकी सहज असमता से बचाने के लिए चेतना रूपी सत्य घटना की कैफ़ियत देते हुए 'गुप्त' शब्द ला घुसेड़ते हैं। पर

इससे उनका पक्ष कुछ अधिक प्रबल नहीं हो जाता, क्योंकि हम दिखलायेंगे कि वे भारी हेत्वाभास का शिकार होरहे हैं। वे इस प्रकार युक्ति देते हैं:— यह ठीक है कि समवाय की क्रिया में कोई नवीन गुण या परिणाम उत्पन्न नहीं होते, परन्तु बहुधा ऐसा होता है कि समवाय या रचना की क्रिया उस वस्तु को बाहर निकाल कर प्रकट कर देती है जो कि पहले गुप्त थी। उदाहरणार्थ, बारूद, गरम होजाने पर, भक से उड़जाने की शक्ति रखता है। भक से उड़जाने की शक्ति बारूद में पहले से ही गुप्त है, आग लगाने की क्रिया केवल उस गुप्त को प्रकट कर देती है। इसको कुछ और स्पष्ट किये देते हैं। सभी लोग यह जानते हैं कि जब लकड़ी या कोयले को आक्सीजन की विद्यमानता में गरम किया जाय तो वह जलने लगता है। यह भी बड़ी प्रसिद्ध बात है कि रगड़ और टक्कर से गरमी उत्पन्न होती है। यह भी सभी को ज्ञात है कि यदि किसी स्थान में उतनी हवा (गैस) भर दी जाय जितनी कि साधारण दबाव के नीचे उसमें समा नहीं सकती, तो यह फैलेगी, और जो भी चीज़ इसके फैलने में बाधा देगी उसे यह धकेल देगी। सोडा वाटर की बोतलों में से डाट (कार्क) का धकेले जाना इसी का एक सुपरिचित दृष्टान्त है। और अन्ततः यह भी प्रत्येक मनुष्य जानता है कि ताप से हवाएं फैलती हैं, और कि कोई वस्तु ठोस अवस्था में जितना स्थान घेरती है उस से सैकड़ों गुना अधिक वह वाष्पावस्था में घेरती है। ये सब सुपरिचित और परम प्रसिद्ध सचाइयां हैं; फिर भी बारूद का बनाना कोई आसान बात नहीं। क्यों नहीं? क्योंकि क्रमशः और स्वाभाविक रीति से अभिमत परिणाम पैदा करने के लिए हमें वस्तुओं और शक्तियों की एक व्यवस्था का प्रयोजन है। हमें भक से उड़ाने की आवश्यकता है। अब भक से उड़ने का मतलब है गोली का धकेलना। इसलिए गोली की ओर हवा (गैस) को फैलाना है। परन्तु फैलाने के लिए दबाई हुई हवा हम कहां से लें? यह स्पष्ट है कि यह हवा हमें ठोस वस्तु से ही मिल सकेगी। इसके पृथक्करण या तोड़ फोड़ से हवा और ताप की एक बड़ी राशि निकलेगी। यह हवा कार्बोनिक एसिड अर्थात् सोडा वाटर वाली गैस होगी, और ताप रासायनिक क्रिया से पैदा होगा। परन्तु कार्बोनिक एसिड कार्बन और आक्सीजन से बनता है। इसलिए आवश्यक है कि ठोस मिश्रण में लकड़ी का कोयला, और शोरा हो, क्योंकि कोयले से कार्बन और शोरे से आक्सीजन निकलती है। कोयले को लगाने वाली अग्नि का जन्म सनातन टक्कर से होगा। इसलिए बारूद कोयले, गन्धक, और शोरे का अन्तिम मिश्रण है। एक रसायन शास्त्री इसकी क्रिया की इस प्रकार कैफ़ियत देता है। "बारूद को जलाने पर जो तोड़ फोड़ की क्रिया होती है उसे इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है कि शोरे का आक्सीजन लकड़ी के कोयले के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड और कार्बो-

निक्र आक्साइड बनाता है, नाइट्रोजन पृथक् होजाता है, और गन्धक (शोरे की) पोटाशियम के साथ मिल जाती है। इसलिए बारूद पानी के नीचे या किसी बन्द स्थान में भी जल सकता है, क्योंकि इसके जलने के लिए स्वयं इसमें ही आक्सीजन मौजूद है; और बारूद की महान् विस्फोटक शक्ति का कारण यह है कि एकदम बहुत सी गैस (हवा) निकलती है, और ताप के शीघ्रता से बढ़ने के कारण हवा के परिमाण में इतनी आकस्मिक और पर्याप्त वृद्धि होती है कि उससे धमक (भक से उड़जाने की क्रिया) उत्पन्न हो जाती है।"* इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संयोग की क्रिया में केवल वही विशेष गुण प्रकट होजाते हैं जो कि पहले गुप्त पड़े थे। इसी प्रकार यह युक्ति दी जाती है कि प्रकृति का विशेष समवाय, जिसे हम मनुष्य-शरीर कहते हैं, प्रकृति की गुप्त चेतना को विकसित या व्यक्त कर देता है। इस लिए चेतन आत्मा कोई पदार्थ नहीं। सारी चेतना की कैफ़ियत देने के लिए अनन्त गुण सम्पन्न प्रकृति ही पर्याप्त है। आओ इस "गुप्त चेतना" के सिद्धान्त की ज़रा सावधानी से जांच करें। जब एक सेर बर्फ में तापमापक यंत्र (थरमामीटर) रखकर उस सारी बर्फ को गरम किया जाता है तो उस सारी के पिघल कर पानी बनने तक ताप की एक बड़ी राशि उसमें सोख हो जाती है। इस ताप का तापमापक पर कुछ असर नहीं होता। या, यदि ताप से पिघलती हुई बरफ में हाथ रक्खे जायं तो जब तक वह सारी पानी न हो जायगी हाथों को उष्णता का अनुभव न होगा। इस अवस्था में कहते हैं कि ताप पानी में गुप्त होगया है। यह दृष्टान्त यह दिखलाने के लिए पर्याप्त है कि वह गुण जिसका वर्तमान काल में कोई पता नहीं लगता परन्तु जिसका विशेष अवस्थाओं में अनुभव होने लगता है; गुप्त कहलाता है। अच्छा, जब यह कहा जाता है कि प्रकृति की गुप्त चेतना व्यक्त हो जाती तो उस से क्या अभिप्राय होता है? क्या कोई गुप्त चेतना हो सकती है? क्या कोई ऐसी गड़ बड़ और ऐसी खिचपिच की कल्पना कर सकता है? वस्तुओं के उन सारे गुणों की जो हमारे लिए बाह्य हैं, या जो आन्तरिक नहीं, अभिज्ञता के भाव या अभाव की कल्पना की जा सकती है। पर क्या कोई ऐसी चेतना की कल्पना कर सकता है जो कि चेतना नहीं? क्योंकि गुप्त चेतना उस चेतना के सिवा और क्या हो सकती है जिसका कि अभिज्ञान नहीं, अर्थात् जो अचेत चेतना है? गुप्त चेतना ऐसी ही वस्तु है जैसा कि गोल वर्ग, या न-सफ़ेद सफ़ेद। यह नाम ही निषेधात्मक है। चेतना के अर्थ को न समझना ही इस सारे तर्क का आधार है। यह केवल 'गुप्त' शब्द के, चेतना पर उपयोग करते समय, उपमात्मक, दुर्व्यवहार से उत्पन्न होने वाला हेत्वाभास है।

हम यहां शरीर-विद्या-सम्बंधी सिद्धान्त (Physiological theory) का भी उल्लेख करेंगे। इस सिद्धान्त का केवल अनुभव को मानने वाले आज कल

* Henry E. Roscoe; Lessons in Elementary Chemistry.

के वैज्ञानिक और दार्शनिक लोगों में प्रचार है। यह सिद्धान्त चेतना की प्रकृति और गति की उपज प्रमाणित करने का दूसरा यत्न है। इस की प्रतिज्ञा है कि मस्तिष्क ही मन का प्रधान साधन नहीं, प्रत्युत मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाली नाड़ीगत धारायें (Nerve currents) हमारे जाने हुए मन का सारा स्रोत हैं। एक लेखक कहता है: "मन में उस पर पड़ने वाले संस्कारों को धारण करने की बहुत बड़ी शक्ति है; ये उस की रचना में मिल जाते हैं, और उस के विकास का एक भाग बन जाते हैं। तत्पश्चात् वे अनेक अवसरों पर पुनः उत्पन्न किए जा सकते हैं, उस समय हम धाराओं और प्रतिधाराओं की ठीक वैसी ही एक माला पाते हैं जैसी कि उस समय थी जब कि संस्कार पहले पहल बनाया गया था। जब मन अपने व्यापारों को कर रहा होता है तो उस समय उस के साथ नाड़ीगत प्रभाव की असंख्य लहरों के वारम्वार गुज़रने की भौतिक क्रिया भी होती रहती है। चाहे किसी वास्तविक चीज़ की संवेदना से हो, चाहे किसी आवेग से, या प्रत्यय (Idea) से हो, या प्रत्ययानुक्रम से हो, साधारण क्रिया वही रहती है। ऐसा प्रतीत होने लगता है, मानों हम कहें कि, "न कोई धारायें हैं, और न कोई मन।" * इस के साथ ही हर्बर्ट स्पेंसर साहब ने संयोगात्मक दर्शन शास्त्र (Synthetic philosophy) पर अपनी एक पुस्तक में जो कुछ लिखा है वह भी मिला दीजिए। इस बात से आरम्भ करके कि पानी, नाइट्रोजन, और कार्बन किस प्रकार आसानी-से-बदल-जाने-वाले मस्तिष्क की सृष्टि करते हैं, वह कहता है कि लहर की उत्पत्ति शक्ति के सरकने से होती है, और मस्तिष्क-सम्बंधी सारी क्रिया केवल शक्ति के हटने या सरकने का ही परिणाम है। मस्तिष्क के केन्द्रों को लपेटी हुई कमानियों से उपमा दे सकते हैं। नाड़ियां अपने आन्दोलन से कमानी की प्रथम गति आरम्भ कर देती हैं, फिर मस्तिष्क-केन्द्र अपने आप को खोलने लगता है। इस प्रतिज्ञा के गुण और अवगुण, या अर्थ प्रकाशक सीमा को दिखलाने के लिए आओ हम इस बात पर विचार करें कि अंश और गुण के प्रभेदों की चेतना कैसे उत्पन्न होती है, और शुद्ध चेतना में इन दो प्रकार के भेदों को कैसे अलग अलग पहचाना जाता है। प्रत्येक मनुष्य जानता है कि गुणसंक्रान्त और परिमाणसंक्रान्त (गुण तथा परिमाण सम्बंधी) प्रभेद क्या होते हैं। दो मन साबन का पांच मन साबन से परिमाण में भेद है। परन्तु ग्लिसरीन के साबन का कार्बालिक के साबन से गुण में भेद है। इसी प्रकार हमारी संवेदनाओं,—हमारे आन्तरिक अनुभवों में भी परिमाण और गुण के प्रभेद हैं। दो गिलास पानी में घोली हुई एक छटांक चीनी का स्वाद पांच गिलास पानी में घोली हुई उतनी ही चीनी से भिन्न होगा। परन्तु स्वाद की

* Alexander Bain: Senses and the Intellect.

संवेदना रंग की संवेदना से गुण में भिन्न है। प्रश्न यह है कि मनुष्य को इस बात का कैसे ज्ञान हुआ कि परिमाण-भेद और गुण-भेद भी कोई वस्तु है? और वह इन दोनों में पहचान कैसे करता है? सरकाओं के सिद्धान्त (Dislodgement theory) पर दोनों की कैफ़ियत नीचे दी जाती है। इस से इस की निःसारता बिलकुल स्पष्ट हो जायगीः—

मस्तिष्क के चेतन केन्द्रों से आणविक शक्ति के सरकने का परिणाम चेतना होता है। अब इस प्रतिज्ञा के आधार पर, परिमाण के प्रभेदों की चेतना मस्तिष्क के उन्हीं केन्द्रों से आणविक शक्ति के कम या अधिक परिमाण में छूटने से उत्पन्न होती है। गुण के प्रभेद, जो बाह्य रीति से अलग अलग सीमाओं, या इन्द्रियों, से संवेदना (Sensation) के भिन्न भिन्न प्रणालियों द्वारा स्थानान्तरित होने से पैदा होते हैं, आन्तरिक रीति से उन का बोध; इस प्रतिज्ञा के अनुसार, मस्तिष्क के भिन्न भिन्न केन्द्रों से आणविक शक्ति के छूटने से होगा। यहां तक तो यह कैफ़ियत बिना अशुद्धि के जा सकती है। परन्तु यह प्रश्न अभी तक बना ही रहता है कि मस्तिष्क के एक केन्द्र पर आणविक शक्ति के छूटने से, दूसरे केन्द्र पर उसी आणविक शक्ति के छूटने से पैदा होने वाली चेतना से भिन्न, गुण की चेतना क्यों उत्पन्न होती है।

कदाचित् कई यह कहेंगे कि भिन्न भिन्न केन्द्रों पर छुड़ाई हुई रासायनिक शक्ति भिन्न भिन्न मूल पदार्थों के परमाणुओं, या भिन्न भिन्न मिश्रणों के परमाणुओं के वियोग से छूटती है, और इसी कारण भिन्न भिन्न संवेदनाओं का अनुभव होता है। यदि यह बात ठीक भी हो तो भी प्रश्न वही बना रहता है। क्योंकि यह शक्ति चाहे इस मिश्रण की चाहे उस मिश्रण की रचना से, या चाहे इस मूल पदार्थ के चाहे उस मूल पदार्थ के परमाणुओं को स्वतंत्र कर देने से छुड़ाई हुई हो, फिर भी यह शक्ति ही है। क्योंकि मस्तिष्क के दो भिन्न भिन्न केन्द्रों पर छुड़ाई हुई शक्तियों के बीच जिस एक मात्र प्रभेद की कल्पना हम कर सकते हैं वह परिमाण या अंश का प्रभेद है गुण का प्रभेद नहीं, क्योंकि छुड़ाई हुई शक्तियां फिर भी शक्तियां ही हैं। इस लिए यह प्रतिज्ञा कि चाहे आणविक शक्ति मस्तिष्क के भिन्न भिन्न केन्द्रों पर ही क्यों न छुड़ाई जाय तो भी हमें केवल परिमाण के प्रभेद की ही अभिज्ञता प्राप्त होती है, अनुभव के विरुद्ध नहीं है। हम ने दिखला दिया है कि गुण के प्रभेद आणविक शक्ति के छूटने के सिद्धान्त के द्वारा स्पष्ट नहीं किये जा सकते। इस अवस्था में पहुंच कर ही शरीर-विद्या-सम्बंधी प्रतिज्ञा (Physiological hypothesis) चेतना को शक्ति का परिणाम सिद्ध करने में अशक्त हो जाती है।

इस प्रकार हम ने जड़वादियों की सभी कैफ़ियतों की हक़ीक़त प्रकट कर दी है। अब आत्मा के विषय में सच्चे विषयाश्रित अनुमानों का वर्णन करना

बाक़ी रह गया है। पहला अनुमान मनुष्य के नाड़ी मण्डल (नर्वस सिस्टम) की बनावट और पट्ठों की गति के साथ उस के सम्बंध से उत्पन्न होता है। मस्तिष्क भूरे द्रव्य के समूहों का, जिन्हें मस्तिष्क-केन्द्र कहते हैं, बना हुआ है। इन केन्द्रों से सूक्ष्म और सफेद रंग के कोमल तंतु निकलते हैं। इन तंतुओं को नाड़ियां कहते हैं। कई नाड़ियां, जिन्हें गति की नाड़ियां कहते हैं, पट्ठों में जाकर समाप्त होती हैं। ये पट्ठे नियत गतियों के लिए पृथक् रक्खे हुए हैं। नाड़ियों का काम तार-समाचार की तारों की तरह केवल लेजाने वाले माध्यम का है। मस्तिष्क-केन्द्र प्रभाव पैदा करते हैं, नाड़ियां उस प्रभाव को पट्ठों के पास पहुंचा देती हैं, और पट्ठे उस के अनुसार कार्य करते हैं। इस प्रभाव का नाम नाड़ीगत धारा (नर्वस करेन्ट) है। मनुष्य-देह में गति का यंत्र इसी प्रकार बना है। मान लीजिए कि मैं अपने हाथ को हिलाना चाहता हूं। संकल्प की आज्ञा पाकर विशेष मस्तिष्क-केन्द्र नाड़ीगत धारा उत्पन्न करता है। यह धारा विशेष नाड़ी में से गुज़र कर इष्ट स्नायु को ऐंठाती है और इस के साथ ही हाथ हिलने लगता है। स्नायुओं और नाड़ियों का यह व्यापार एक संकल्प करने वाले शासक कर्त्ता के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। इस का एक बहुत ही अनुरूप दृष्टान्त रथी का है जो कि अपने पट्ठों के बल से घोड़ों की बागों को मोड़ता है, और वे घोड़े रथ को खींचते हैं। रथी संकल्प करने वाला शासक कर्त्ता है। रथी का हाथ जो बागों को प्रेरणा करता है नाड़ियों को नाड़ीगत धारा देने वाला विशेष मस्तिष्क-केन्द्र है। बागें नाड़ियां हैं और घोड़ा वह स्नायु है जिसे हिलाना कि अभीष्ट है। इस लिए आत्मा को शरीर रूपी रथ का चलाने वाला रथी समझा जाता है। यह पहला अनुमान है।

दूसरा अनुमान फेफड़ों की क्रिया से है। सांस लेने की क्रिया में सांस को भीतर लेजाकर रोकना, और फिर बाहर निकाल देना होता है। सांस को भीतर लेजाने की क्रिया में, विशेष झिल्लियों की गति से, वायुमण्डल की पवन फेफड़ों में जाकर रक्त को जलाती (Oxidize), कार्बन को कार्बानिक एसिड बनाती, और दूसरे मलों को भस्म कर देती है। मनु कहते हैं:—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

सुनार अशुद्ध स्वर्ण को आग में रख, धौंकनी से जल्दी जल्दी फूंक कर उस के सारे मलों को जला कर दूर कर देता है। इस प्रकार फेफड़ों को यथोचित रीति से फूंकने से शरीर और शारीरिक इन्द्रियों के मल भस्म होकर दूर हो जाते हैं।

इस प्रकार दूषित और रासायनिक रीति से परिवर्तित हवा, अब कार्बानिक एसिड और अन्य मलों से लदी हुई फेफड़ों से बाहर निकल जाती है। यह

क्रिया निरन्तर जारी रहती है, और इस प्रकार सांस लेने और बाहर निकालने की क्रिया से शरीर अपने मलों को दूर करता, अपने लहू को ताज़ा करता, वायु के अदृश्य तत्वों से शक्ति और आहार प्राप्त करता, और अपनी क्षतियों और चोटों की मुरम्मत करता है। इस क्रिया से किसी फूंकने वाले के अस्तित्व का पता चलता है। अनुमान को अधिक स्पष्ट करने के लिए, हम लोहार या सुनार का दृष्टान्त लेते हैं जो कि भट्टी में पड़े हुए लोहे या सोने के टुकड़े में अपनी धौंकनी से जल्दी जल्दी हवा फूंक रहा है; जब धौंकनी में से भट्टी में हवा भेजी जाती है तो पट्ठों की एक विशेष शक्ति लगानी पड़ती है। परन्तु धौंकनी को पुनः हवा से भरने के लिए सुनार को कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता। यही हाल फेफड़ों का है। सांस को बाहर निकालने का व्यापार संकल्प के अधीन है। परन्तु सांस को भीतर लेजाना सर्वथा अनैच्छिक काम है। अतः यह स्पष्ट है कि फेफड़ों की बनावट एक कारक की चेष्टा को प्रकट करती है जो कि लगातार हवा को बाहर भेज रहा है।

एक ऐसा ही अनुमान आंखो के झपकने से निकाला जासकता है। यह व्यापार भी, फेफड़ों की तरह, संकल्प के अधीन है, परन्तु अपनी साधारण क्रियाओं में भी यह इतना नियमित और इतना यथार्थ है कि इसे एक चतुर पुतली वाले के हाथ पर नाचने वाली पुतलियों की चेष्टा से उपमा दी गई है। किसी ठोस वस्तु से ऊपर की पलक के भीतरी भाग को स्पर्श करने से कृत्रिम रीति से भी आंख झपकाई जासकती है। इसमें जो पेंठाने वाली फड़फड़ाहट उत्पन्न होती है वह एक भीतर निवास करने वाले गुप्त स्वामी की भावना को बड़ी ही स्पष्ट रीति से प्रकट करती है। जब आंख में कोई चीज़ पड़जाती है तो उसे निकाल फेंकने के लिए इसी स्वामी की आज्ञा से, पुतलियों के नाच की तरह, आंख फड़कने लगती है।

आरोग्य और वृद्धि के शरीर-विद्या-सम्बंधी दृश्य-चमत्कार, बहुत ही प्रबोधक हैं। आत्मा, शरीर-वृद्धि की क्रिया में सम प्रमाण रूप से अपनी भीतरी शरीर व्यवच्छेद विद्या (Anatomy) के द्वारा शरीर के सभी अंगों को बनाता, क्षतिग्रस्त अवयवों की मुरम्मत करता, घावों को चंगा करता, और, सब से बड़े महत्व की बात यह है कि यह, सब रोगों और संक्षोभों को दूर करने का सच्चा यत्न करता है। शिल्पकार के रूप में, आत्मा की यह शक्ति बड़ी प्रसिद्ध है। इसी से "स्थितिपालक" शक्तियां, या मनुष्य-शरीर की "युक्ति" आदि परिभाषाओं की उत्पत्ति हुई है। इस सत्य घटना के गुणों को यथार्थ रीति से ग्रहण कर लेने से ही एक ऐसे श्रेष्ठ चिकित्सक समाज का जन्म हुआ है जो मनुष्य-शरीर को एक स्वयम्-उपशमकारिणी संस्था समझता है। उन की चिकित्सा में औषध

कभी कभी प्रकृति की सहायता के लिए ही दी जाती है, रोग को दूर करने के लिए नहीं। इस शरीर-विद्या-सम्बंधी शक्ति और आत्मा के ऐसे ही अन्य व्यापारों के विषय में एक प्रसिद्ध चिकित्सक कहता है, "जड़वादी कहते हैं कि परिपचन पेपसिन नामक एक विशेष ऐन्द्रियिक पदार्थ और लेकटिक एसिड, असीटिक एसिड और हाइड्रोक्लोरिक एसिड आदि अनेक अम्लों की क्रिया से होता है। पर सचाई यह है कि अन्ननालिका (वह बड़ी नाली-मुंह, कण्ठ, आमाशय, और अन्तड़ियां-जिस के द्वारा परिपचन क्रिया में भोजन शरीर में से गुज़रता है।) में क्लेदमय झिल्ली में असंख्य गिलटियों की गति की तरह, वर्तुल संकोच उत्पन्न करने वाली स्नायु-तंतुओं की अकाम चेष्टा (Peristaltic movement), और इस लिए स्वयं परिपचन भी मस्तिष्क और रीढ़ की हड्डी के साझे केन्द्रों की सहायता के बिना ही, सहानुभावी मण्डल (Sympathetic System) के तंतुओं के द्वारा आत्म रूपी सूत्र की क्रिया से होता है। यह सहानुभावी मण्डल (सिम्पेथेटिक सिस्टम) स्वाधीनगतिक सहजाववोधों और विशेषतः उन प्राणभूत स्वतः विज्ञ सूत्रों का निवास स्थान और खम्भा है जो कि प्रकृति की घटना में सार और तेज से निकल कर मनुष्य की आध्यात्मिक रचना में उसी तरह की वस्तुओं में प्रवेश करते हैं। इस लिए क्षुधा आत्मा का अपने लिए और अपने आश्रित शरीर के लिए सार्वत्रिक शब्द है; और आत्मा को अपने और शरीर के बनाने के लिए जो कुछ दिया जाता है उसे अपनाने का नाम परिपचन है"।

अन्ततः वे जटिल सम्बंध जो ज्ञानेन्द्रियां कर्मेन्द्रियों के साथ स्थापित करती हैं, आत्मा के अस्तित्व के अनुमान के लिए बड़ी दृढ़ भित्ति का काम देते हैं। किसी वस्तु के रंग या गंध को देख कर उस का स्वाद स्मरण आ जाता है, और उस के स्वाद की भावना जिह्वा को उत्तेजित करके बहुत सा थूक पैदा कराती है मानो वह उस वस्तु को अभी खाने ही लगी हो। वास्तव में, परीक्षा के लिये कुत्तों की जीभों से बहुत सा थूक इसी विधि से उन को मांस के स्वादिष्ठ खाने दिखलाकर प्राप्त किया जाता है। कुत्तों को वे भोजन कम से कम उस समय, खाने को नहीं दिए जाते; दूर से देखकर ही उन की जीभ पानी छोड़ने लगती है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के व्यापारों का वास्तव में ऐसा घनिष्ठ सम्बंध है कि एक ही उपलब्धि के द्वारा उत्पन्न हुए सुयोगों से कई भयानक रोग पैदा हो सकते हैं। ये सब बातें एक मध्यवर्ती चेतन सत्ता का, जिसे यहां आत्मा कहा गया है, अनुमान कराती हैं।